भूमिका

ये वे व्याख्यान हैं जो मैंने–काशी, मिर्जापुर, प्रयाग, लखनौ, कानपुर, बरेली, अयोध्या, आवरा, फांसी, ग्वालियर, मेरठ, सहारनपुर आदि नगरों में सभारोह के सामने दिये थे। लखनौ आदि कई स्थानों में मुझ से इन के छापने का आग्रह किया गया था। आज यह चौथी बार छप कर तैयार हो गये और मौखिक व्याख्यानों में जो समयाभावादि कारणों से कुछ बातें छूट जाती थीं और जो उस समय तक अज्ञात थीं वे बढ़ाई गई हैं॥

यह पञ्चम बार है। तुलसीराम स्वामी-मेरठ

पिण्डपितृयज्ञ (पांचवां व्याख्यान)

इस में निरुक्तादि वेदपर्यन्त ग्रन्थों से प्रथम यम और पितरों का यथार्थ भौतिक स्वरूप बतलाया गया है कि ये वायुभेद हैं, फिर यजुर्वेदसंहिता शतपथब्राह्मण, कात्यायन श्रौतसूत्र और मीमांसादर्शन के पिण्डपितृयज्ञ का पूरा प्रकरण परस्पर सङ्गति लगाकर दिखलाया है और सिद्ध किया है कि इन सब आर्षग्रन्थों का तात्पर्य पितृपक्ष वा श्राद्धविषय में मृतकपितृविषयक नहीं है। मूल्य ।)

काशिक संस्कृत (षष्ठ ६) व्याख्यान

यह वही व्याख्यान है जो ता० २१।१२।०५ को काशी में आर्यसमाज के मण्डप में अनुमान ५००० श्रोताओंके सामने श्रीपं० तुलसीराम जी स्वामी ने दिया था। यह काशी के पण्डितों के सामने प्रस्तुत करने को एक मास पूर्व से सविशेष शोधा और निर्णीत किया था, जो विवाह की आयु पर है। इस में प्रौढ़ प्रमाणों से रजस्वला होने पश्चात् कन्या का विवाह करना सिद्ध किया गया है। मूल्य ॰)

मनुस्मृति भाषानुवाद सहित

जिस में ३२ पुराने भिन्न २ नगरों से प्राप्त हुवे पुस्तकों से मिलान कर के मुम्बई के एक २५) के मनु के एडीशन का सार लेकर श्लोकों पदों वाक्यों और अर्थों का विवेचन करके छापा गया है और मनु में मिलावटी श्लोकों और खोये गये श्लोकों की भी खोज करके पता लगाया गया है मूल्य १।) सजिल्द १॥॰)

ओ३म्

प्रथम व्याख्यान

वैदिकदेवपूजा

आप जानते हैं कि धर्म अनुष्ठान के लिये है, न केवल जानने के लिये। धर्मानुष्ठान ही वैदिककर्मकाण्ड है। वेद के कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड—इन काण्डत्रय में प्रथम कर्मकाण्ड है। मनुष्य की प्रथमावस्था का कर्तव्य धर्मानुष्ठान (कर्मकाण्ड) है, यही नहीं किन्तु उपासना और ज्ञानकाण्ड के अधिकारियों को भी कर्मकाण्ड अगले कांडों में सहायक है। जैसा कि:-

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥

यजुः॥ अध्याय ४० मन्त्र २॥

अन्वयः-[नरः] इह कर्माणि कुर्वन्नेव शतं समाः जिजीविषेत्। एवं त्वयि नरे कर्म न लिप्यते, इतोऽन्यथा नास्ति [लेपाभाव इति शेषः]॥

[मनुष्य] संसार में कर्म करता हुआ ही सौ १०० वर्ष पर्यन्त जीवनेच्छा करे, इस प्रकार तुझ मनुष्य में कर्मलेप (बन्धन) नहीं होता, इस से अन्यथा [लेपाभाव] नहीं है॥ १॥

आशय यह है कि यदि मनुष्य चाहे कि मैं बन्धन से छूट जाऊं, मुझमें कर्मलेप न हो, तो उस को उचित है कि वैदिककर्मकाण्डानुष्ठान करता हुआ ही जीवन व्यतीत करे, और कोई मार्ग नहीं है। अर्थात् केवल ज्ञानकांड शुष्क है, वह पूर्ण कार्यसाधक नहीं। आप प्रश्न करेंगे कि—"नहि पङ्केन पङ्काम्भः" मैल को मैल ही जैसे शुद्ध नहीं कर सकता, इसी प्रकार कर्मानुष्ठान द्वारा कर्मबन्धन (जन्ममृत्युजराव्याध्यादि) कैसे छूट सकते हैं? तो उत्तर यह है कि जिस प्रकार मलिन वस्त्र का मल दूर करके उस को स्वच्छ करना चाहें तो यह नहीं हो सकता कि उस को नैष्कर्म्य की भांति ज्यों का त्यों रक्खा रहने दें और वह स्वच्छ हो जावे, किन्तु उसपर मलशोधक (साबुन) आदि विधिविहित) वस्तु लगाने से ही वह स्वच्छ होगा। इसी प्रकार

दार्ष्टान्त में मनुष्य जो अनेक क्लेशकर्मविपाकाशयों से लिपट रहा है, वह केवल नैष्कर्म्य से स्वच्छावस्था को प्राप्त नहीं हो सकता किन्तु सन्ध्योपासनाग्निहोत्रादि विधिविहित कर्मानुष्ठान से ही सुधर कर स्वच्छावस्था को प्राप्त होगा ॥

एक बात यह भी विचारणीय है कि मनुष्य को सुषुप्ति अवस्था के समान सांसारिक वासनाओं से पृथक् होना मात्र ही पर्याप्त नहीं, किन्तु उस के उपरान्त उसे ब्रह्मानन्द का प्राप्त करना वा जीवन्मुक्ति वा मुक्तावस्था को प्राप्त होना भी परम अभीष्ट है । क्योंकि जिस प्रकार मलिन वस्त्र के स्वच्छ हो जाने मात्र से तो बहुत शीघ्र उस वस्त्र को पुनः मैला होकर रजक (धोबी) का आश्रय लेना और उस के पटड़े पर पछाड़ पिटना छिलना पड़ता है, परन्तु यदि वह किसी पक्के रङ्ग और पालिस से चिकना हो जाय तो उसे अपनी वर्त्तमान सृष्टि में पुनः धोबी और उस के पटड़े की पछाड़ मार से छुटकारा मिल सकता है । इसी प्रकार यदि मनुष्य किसी प्रकार स्वच्छावस्था अर्थात् अन्तःकरण की शुद्धि पर्यन्त पहुंचकर भी अपने आप को ज्यों का त्यों छोड़ देगा तो उसको पुनः शीघ्र ही माता के गर्भाशयरूप रज के कुण्ड में पड़ना पड़ेगा, परन्तु यदि वह वैदिककर्मकाण्डानुष्ठान द्वारा शुद्धान्तःकरण होकर भी परमात्मा की भक्ति (तत्प्रवणता) उपासना करता २ परमात्मा का वरण=सर्वतोभाव से प्राप्ति करले तो निःसन्देह वह वर्त्तमान सृष्टि पर्यन्त पुनर्जन्म से छूट जावे ॥

जब कि वैदिककर्मकाण्ड साक्षात् तो नहीं किन्तु परम्परा से पूर्वोक्त प्रकार स्वच्छता सम्पादन कराकर मुक्तावस्था का भी बहिरङ्ग साधन है तो मनुष्यमात्र का परमोपयोगी है । इस मन्त्र के पदों से यह भी ध्वनि निकलती है कि "यदि शतं समाः जिजीविषेत् तर्हि कर्माणि कुर्वन्नेव नेतोऽन्यथा" यदि कोई पूर्ण शतवर्षायुः होना चाहे तो वैदिककर्मों को करता हुआ ही इतना जीवन पा सकता है, इस के विरुद्ध अपकर्मों से जीवन नष्ट होता है, आयु घटती है । इस लिये आयुर्वृद्धि आदि सांसारिक सर्वसुख भोगों का प्राप्त कराने वाला जो कर्मकाण्ड का अग्रणी "यज्ञ" है उस की व्याख्या का आरम्भ किया जाता है ॥

"यज्ञ" शब्द "यज-देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु" इस धातु से नङ् प्रत्यय लगाकर सिद्ध होता है । तथा च सूत्रम्—

यजयाचयतविच्छप्रच्छरक्षो नङ् ३ । ३ । ९० ॥

महाभाष्यम्—यजादिभ्यो नस्य ङित्त्वे सम्प्रसारणप्रतिषेधः । यजादिभ्यो नस्य ङित्त्वे सम्प्रसारणप्रतिषेधो वक्तव्यः । प्रश्न इति । एवं तर्हि अङित्क-रिष्यते । अङिति गुणप्रतिषेधः । यद्यङित् गुणस्य प्रतिषेधो वक्तव्यः । विश्न इति । सूत्रं च भिद्यते । यथान्यासमेवास्तु । ननु चोक्तं यजादिभ्यो नस्य ङित्त्वे सम्प्रसारणप्रतिषेध इति । नैष दोषः । निपातनात्सिद्धम् । किं निपातनम्, प्रश्ने चासन्नकाले इति ॥

अर्थ—यज, याच, यत, विच्छ, प्रच्छ और रक्ष इन धातुओं से कर्तृभिन्न कारक और भाव में नङ् प्रत्यय हो । महाभाष्य—यजादि से परे नङ् प्रत्यय ङित् मान कर—प्रश्नः यहां सम्प्रसारण प्राप्त है, उस के निषेधार्थ वार्तिक करना चाहिये । नहीं, नङ् के स्थान में 'न' ऐसा अङित् करा जायगा, ऐसा करने से विश्नः यहां गुणप्रतिषेधार्थ वार्तिक करना चाहिये । (अर्थात् दोनों दशा में वार्तिक करना ही पड़ेगा) सूत्र भी बिगड़ता है, इस से ज्यों का त्यों (यथान्यास) ही रहो । जो शङ्का कर चुके हैं कि सम्प्रसारणप्रतिषेधार्थ क्या करोगे ? उ०—यह शङ्का नहीं बन सकती, क्योंकि निपात से सम्प्रसारण का निषेध सिद्ध है । निपात क्या है ? उत्तर—" प्रश्ने चासन्नकाले " यह सूत्र प्रश्न शब्द में सम्प्रसारणाभाव का ज्ञापक है ॥

इस प्रकार यदि भाव में प्रत्यय मानें तो देवपूजन, सङ्गति करना और दान अर्थ होगा और यदि अधिकरणादि कर्तृभिन्न कारकों में प्रत्यय मानें तो देवपूजादि के स्थान हवनकुण्डादि अर्थ यज्ञ शब्द के वाच्य होंगे । सङ्गतिकरण अर्थ को लेने से यज्ञशब्द का बड़ा ही विस्तृत अर्थ हो जाता है । समस्त पदार्थविज्ञान और तदनुकूल पदार्थों की सङ्गति करके समस्त सांसारिक सुख की धर्मानुकूल सामग्री उत्पन्न करना, यज्ञ शब्द का अर्थ होगा, परन्तु इस प्रकार के यज्ञ का तो आजकल स्वयमेव बड़ा भारी प्रचार हो रहा है और बहुत दूर तक इस में सफलता प्राप्त हो रही है किन्तु यज्ञ शब्द के देवपूजापरक अर्थ में आजकल बहुत ही अनर्थ हो रहा है, इसलिये हम इस अंश पर ही व्याख्यान करेंगे । देवपूजा की दुरवस्था का कारण, वेदार्थ का न जानना है, वेदार्थ के न जानने का कारण उस का अनभ्यास है, अनभ्यास से मृत्यु आदि दुःख भोगने पड़ते हैं । जैसा कि:—

अनभ्यासेन वेदानामाचारस्य च वर्जनात्।
आलस्यादन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्राञ्जिघांसति ॥

वेद के अनभ्यास, आचारत्याग, आलस्य और अन्नदोष से विप्रों को मृत्यु मारना चाहता है। अर्थात् यदि पूर्वोक्त दोषों को बचावें तो दीर्घायु हो सकते हैं। वेदाभ्यास से देवपूजादि का ठीक तात्पर्य समझ सकते हैं और तदनुकूल अनुष्ठान कर सकते हैं अब हम को विचारना चाहिये कि वेद में देव वा देवता क्या पदार्थ है? यद्यपि देवता शब्द के धात्वर्थवश क्रीडादि बहुत अर्थ हैं, तथापि यहां प्रकरण में इससे विशेष अर्थ का विचार करना है॥

देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीति वा॥ निरुक्त अध्याय ७ खण्ड १५।

दान, दीपन, द्योतन और द्युस्थान [प्रकाशस्थान] होने से 'देवता' होता है (होती है), यद्यपि पूर्णदान, पूर्णप्रकाश, पूर्णद्योतन (बताना) और पूर्णप्रकाश का स्थान तो अचिन्तनीय, ज्योतिष्मान्, सच्चिदानन्द, परमात्मा ही है और इस कारण से सब अर्थ अधीनभाव से उसी में मुख्य करके घटते हैं, तथापि सांसारिक सुखभोग के अभिलाषी सज्जन अधिकारियों के लिये उनके अभीष्ट इन्द्रियोपभोग्य स्वादुरससुगन्धादि से होने वाले सुखों की प्राप्ति के अर्थ सूर्यादि भौतिक पदार्थ भी (जो ब्रह्म बुद्धि से उपास्य नहीं हैं) सतीन प्रकाशादि दिव्यगुणों के धारण करने वाले होने से गौण भाव से 'देवता' हैं जिन का वर्णन वेद में इस प्रकार है:-

अग्निर्देवता वातोदेवता सूर्य्योदेवता चन्द्रमा देवतावसवो-देवता रुद्रोदेवता आदित्यादेवता मरुतोदेवता विश्वेदेवा देवता बृहस्पतिर्देवतेन्द्रो देवता वरुणोदेवता॥यजुः १४। २०॥

वसवोऽष्टौ, रुद्रा एकादश, आदित्या द्वादश, मरुतश्चत्विजः—मरुत इत्यृत्विङ्नामसु निघण्टौ पठितम् ३। १८, विश्वेदेवाः सर्वे प्रज्ञापकस्था दिव्याः पदार्था मनुष्याश्च, इन्द्रो विद्युत्, वरुणो जलं वरगुणाढ्यो योऽन्यो वा। अन्यत् स्पष्टम्। एते देवता भवन्ति इति शेषः। यथोक्तं शतपथे। कां० १४ प्रपा० १६ कं० । ३-१० ॥

सहोवाच महिमान एवैषामेते त्रयस्त्रिंशत्त्वेव देवा इति। कतमे ते

त्रयस्त्रिंशं श्रदित्यष्टौ वसव एकादश रुद्राद्वादशादित्यास्त एकत्रिंशं श्रदिन्द्र-श्चैव प्रजापतिश्च त्रयस्त्रिंशाविति ॥ ३ ॥ कतमे वसव इति । अग्निश्च पृथिवी च वायुश्चान्तरिक्षं चादित्यश्च द्यौश्च चन्द्रमाश्च नक्षत्राणि चैते वसव एतेषु हीदं सर्वं वसु हितमेते हीदं सर्वं वासयन्ते तद्यदिदं सर्वं वासयन्ते तस्माद्वसव इति ॥ ४ ॥ कतमे रुद्रा इति । दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशस्ते यदास्मान्मर्त्याच्छरीरादुत्क्रामन्त्यथ रोदयन्ति तद्यद्रोदयन्ति तस्माद्रुद्रा इति ॥५॥ कतम आदित्या इति द्वादशमासाः संवत्सरस्यैत आदित्या एते हीदं सर्वमाददाना यन्ति यद्यदिदं सर्वमाददाना यन्ति तस्मादादित्या इति ॥ ६ ॥ कतम इन्द्रः कतमः प्रजापतिरिति । स्तनयित्नुरेवेन्द्रो यज्ञः प्रजापतिरिति, कतमः स्तनयित्नुरित्यशनिरिति, कतमो यज्ञ इति पशव इति ॥७॥ कतमे त्रयो देवा इति म एव त्रयो लोका एषु हीमे सर्वे देवा इति॥८॥कतमौ द्वौ देवावित्यन्नं चैव प्राणश्चेति। कतमोऽध्यर्ध इति योयं पवत इति ॥९॥ तदाहु यदयमेक एव पवतेऽथ कथमध्यर्ध इति यदस्मिन्निदं सर्वमध्यार्ध्नोत्तेनाध्यर्ध इति॥ कतम एको देव इति । स ब्रह्म त्यदित्याचक्षते ॥ १० ॥

ऊपर लिखे यजुर्मन्त्रमें इस प्रकार देवतों के नाम बताये हैं कि—अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्रमा, ८ वसु (अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यौः, चन्द्र और नक्षत्र) ११ रुद्र-(प्राण, अपान, उदान, समान, व्यान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनञ्जय)। और ११ वां जीवात्मा । १२ आदित्य-(वर्ष के १२ मास) मरुत-ऋत्विज् लोग, विश्वेदेवाः—संसार भरके दिव्य गुणयुक्त पदार्थ और मनुष्य, बृहस्पति—परमात्मा, इन्द्र—बिजली, और वरुण—जल वा अन्य पदार्थ जो वरणीय गुणों से युक्त हों । ये सब पदार्थ देवता हैं । पूर्वोक्त ८ पदार्थ वसु इस लिये हैं कि (एतेषु हीदं सर्वं वसु हितम्) इन में ही यह सब सुवर्णादि धन रक्खा है (एते हीदं सर्वं वासयन्ते) ये ही सबको [जगत] को बसाते हैं । इस से यह भी सूचित होता है कि सूर्यादि लोकों में भी बस्तियां हैं । पूर्वोक्त ११ पदार्थ रुद्र इस लिये हैं कि—(यदा स्मान्मर्त्याच्छरीरादुत्क्रामन्त्यथ रोदयन्ति तद्यद्रो०)जब मनुष्यदेह से ये प्राणादि ११ रुद्र निकलते हैं तब इष्ट मित्र सम्बन्धियों को रोदन कराते हैं । वस रोदन कराने से रुद्र नाम पड़ा । पूर्वोक्त संवत्सर के १२ मास आदित्य इस लिये हैं कि (एते हीदं सर्वमाददाना यन्ति०) ये चैत्रादि द्वादश मास ही सब जगत् को लिये हुए जाते हैं इस से आदित्य नाम पड़ा । यह तो शतपथ ब्राह्मण के वचन का अर्थ है, विशेष यह है कि सप्ताह के ७ वार,

या अहोरात्र के दो भाग दिन और रात्रि वा शुक्लपक्ष कृष्णपक्ष ये सब भी सौ जगत् को लिये हुवे जाते हैं, ये भी आदित्य हो सकते हैं ? नहीं, इस में सूक्ष्म विचार है । कल्पना करो कि आज रविवार है और ७ दिन पश्चात् यही रविवार फिर आवेगा, परन्तु यह रविवार ठीक आगामी रविवार के तुल्य नहीं होसकता क्योंकि इस रविवार में १४ तिथि है आगामी में ६ तिथि होगी, जैसी और जितनी चन्द्र या सूर्यादि की ठण्ड और उष्णतादि आज है आगामी ६ तिथि रविवार को न होगी क्योंकि चन्द्रकला न्यून हो जायगी, उत्तरायण के कारण सूर्य की उष्णता बढ़ जायगी, इत्यादि अनेक कारणों से आज का रविवार आगामी रविवारों की अपेक्षा बहुत ही भेद रखता है । इसी प्रकार आज के दिन और रात्रि के सदृश आगामी दिन रात्रि भी सूर्यादि की उष्णता आदि के भेद से कभी नहीं हो सकते हैं । तथा यही भेद वर्त्तमान शुक्ल कृष्णपक्ष के सदृश आगामी शुक्ल कृष्णपक्ष की तुल्यता में भी बाधक है । इसलिये चैत्रादि १२ मास ही पुनः २ लौट कर अधिकांश में तुल्यावस्था से आते हैं । जैसे—सास्मिन्पौर्णमासीति । अष्टाध्यायी ४ । २ । २१ इस सूत्र के अनुसार चित्रा नक्षत्रयुक्त पौर्णमासी जिस मास की हो, वह चैत्र, विशाखा नक्षत्रयुक्त पौर्णमासी जिस मास की हो, वह वैशाख इसी प्रकार ज्येष्ठानक्षत्र ज्येष्ठ, अषाढा नक्ष०—आषाढ, श्रवण, नक्ष०—श्रावण, भाद्रपदा० भाद्रपद, अश्विनी०—आश्विन, कृत्तिका०—कार्त्तिक, मृगशिर०—मार्गशिर, पुष्य न०—पौष, मघा न०, माघ और फल्गुनी०—फाल्गुन॥

अब जिस नक्षत्र से युक्त जिस मास की पौर्णमासी इस वर्ष है प्रायः उसी नक्षत्र से लगभग सहस्रों वर्ष से उस २ मास की पौर्णमासी होती रही है । और सौर मास की रीति से सङ्क्रान्तिमास १२—मेष, वृष, मिथुन, कर्क, सिंह, कन्या, तुला, वृश्चिक, धनु, मकर, कुम्भ और मीन ये बारह सङ्क्रान्ति भी इस वर्ष के समान सब वर्षों में हुई व होंगी इस कारण १ वर्ष के बारह सौर वा चान्द्र मास ही बारह आदित्य हो सकते हैं, अन्य काल विभाग नहीं ॥

मरुत (यह निघण्टु ३ । १८ में ऋत्विजों का नाम है ऋत्विज् का व्याख्यान वेदमन्त्र द्वारा आगे करेंगे) विश्वेदेवाः सब ब्रह्माण्डस्थ दिव्यपदार्थ और मनुष्य, बृहस्पति=देवताओं का भी राजा परमात्मा, इन्द्र, बिजुली और वरुण=जल वा अन्य वरणीय पदार्थ ये सब देवता अर्थात् प्रकाशादि दिव्यगुणयुक्त पदार्थ हैं । यह यजुर्मन्त्रार्थ हुवा ॥

अब ऊपर लिखे शतपथब्राह्मण का अर्थ सुनिये—शाकल्य ऋषि से याज्ञवल्क्य जी कहते हैं कि ३३ देवता कौन से हैं। ८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य ये ३१ हुवे। इन्द्र और प्रजापति ये मिल कर ३३ हुवे। इन्द्र किसे कहते हैं? स्तनयित्नु अर्थात् बिजुली को। प्रजापति कौन सा है? यज्ञ प्रजापति है। प्रजापति क्यों है? पशु ही प्रजापति हैं क्योंकि प्रजा का पालन इन्हीं से होता है॥

तीन देवता कौन २ हैं?—३ लोक ही ३ देवता हैं क्योंकि इन्हीं ३ लोकों में ये सब देवता अन्तर्भूत हैं॥

धामानि त्रयाणि भवन्ति स्थानानि नामानि जन्मानीति, निरुक्ते ९। २८॥

स्थान, नाम, जन्म ये ३ धाम वा लोक हैं। दो देवता क्या २ हैं? अन्न और प्राण (जो खाया जाय वह अन्न और जो खाने वाला वह प्राण)। अध्यर्ध कौन है? पवमान ही अध्यर्ध है क्योंकि वह अकेला ही पावन करता है, इस का नाम अध्यर्ध कैसे पड़ा? क्योंकि इस अध्यर्ध अर्थात् पवन में ही यह सब जगत् ऋद्ध वृद्ध होता है इस कारण अध्यर्ध नाम पड़ा॥

एक देवता कौन है? वह ब्रह्म है। ऐसा आचार्य लोग कहते हैं। इति

प्रश्न—क्या इन सब देवताओं की उपासना करनी चाहिये?। नहीं, क्योंकि:—

आत्मेत्येवोपासीत। स योन्यमात्मनः प्रियं ब्रुवाणं ब्रूयात् प्रियꣳ रोत्स्यतीति। ईश्वरो ह तथैव स्यादात्मानमेव प्रियमुपासीत। स य आत्मानमेव प्रियमुपास्ते न हास्य प्रियं प्रमायुकं भवति। योन्यां देवतामुपास्ते न स वेद यथा पशुरेवꣳ स देवानाम्। शतपथ कां० १४ अ० ४॥

अर्थ—आत्मा ही की उपासना करे। जो कोई आत्मा से अन्य को प्रिय कहे उसे उत्तर देना चाहिये कि तू प्रिय को रोवेगा। ईश्वर ही ऐसा प्रिय है अतः आत्मा ही को प्रिय मान (प्रेमभक्ति से) उपासना करे। वह जो प्रिय परमात्मा ही की उपासना करता है उस का प्यारा

मरता नहीं। क्योंकि आत्मा अमर है)। तथा जो अन्य देवता की उपासना करता है उस का प्रिय मर जाता है क्योंकि अन्य सूर्यादि देवता अमर नहीं। वह अज्ञानी है। वह नहीं जानता कि वह देवतों में पशु तुल्य है॥

इस से सिद्ध हुवा कि परमात्मा के अतिरिक्त अन्य देवता उपास्य नहीं तथा अन्य देवता मरने वाले हैं अतः उन की उपासना करने वाला भी जन्म मरण के चक्र से नहीं निकल सका। ऐसा ही इस यजुर्वेद के मन्त्र का भी तात्पर्य है। यथा-

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।

यजुः ३१। १८॥

(जिज्ञासु को उपदेष्टा उपदेश करे कि-)

अहमेतं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तादुत्तमानं पुरुषं वेद। तमेव विदित्वा मृत्युमत्येति। अन्यः पन्था अयनाय न विद्यते॥

अर्थ-मैं इस महान्, ज्योतिःस्वरूप, अविद्या वा अन्धकार से सर्वथा पृथक्, सर्वव्यापक पुरुष को जानता हूं। उस ही को जान कर मृत्यु को उल्लंघन कर के मुक्ति पासकता है अन्य कोई मार्ग मुक्ति को पाने का नहीं है॥

इस के अतिरिक्त अन्य शतशः प्रमाण इसी विषय के वेदों में हैं जिन को विस्तार के भय से हम यहां नहीं लिख सकते। प्रकरण यह था कि इन्द्रादि देवताओं की पूजा, जो यज्ञ कहाती है, उसकी विधि, फल और युक्तिसिद्ध तथा शास्त्रीय तात्पर्य क्या है? हम ऊपर देवताओं के नाम बता चुके हैं। यद्यपि इस भयानक अज्ञानमय समय में हम वेद के तात्पर्य को पूर्णाभ्यासी न होने से वैसा नहीं जानते जिससे प्रत्येक देवता के गुण कर्म स्वभावों को जान सकें, तथापि किन्हीं सूर्यादि देवों को हम नाम और स्वरूप दोनों प्रकार से जानते हैं और कुछ पूषाऽर्यमादि ऐसे देव हैं जिन को हम वेद द्वारा नाममात्र से जानते हैं, उन को स्वरूप से नहीं पहचानते कि वह कहां और कैसे हैं? यह दोष हम में इस कारण आगया कि बहुत काल से वेदों के अर्थ सहित पढ़ने की परिपाटी छूट गई। अब यदि टीका और भाष्यादि के सहारे से कुछ समझें तो बहुधा एकशब्द का दूसरा

पर्याय तो मिल जाता है परन्तु "इन्द्र का तरजुमा बिड़ौजा" वाली कथा होती है। घट=कलश को कहते हैं और कलश कुम्भ को कहते हैं, इस प्रकार चाहे जितने पर्याय (मुरादिफ़) बोल जाइये, परन्तु जब तक घट पदार्थ का साक्षात् ज्ञान न हो तब तक ये पर्याय वाचक शब्द शब्द ही शब्द हैं, अर्थ कुछ भी नहीं जाना जा सकता। इस लिये जिस प्रकार आजकल सांसारिक पदार्थविज्ञानपर भारी उद्योग होरहा है इसीप्रकार सैंकड़ों वर्षपर्यन्त वैदिकपदार्थ विज्ञान के लिये श्रम किया जाकर उन २ पदार्थों का साक्षात्कार करना चाहिये और समस्त संसार के मनुष्यमात्र परिश्रम नहीं करें तो न्यून से न्यून भारतवर्षीय और ये भी नहीं तो वर्णाश्रमस्थ होने के अभिमानी और ये भी न करें तो ब्राह्मण ही अपनी आयु का बड़ा भाग इस कार्य में लगावें। आशा है कि लगातार परिश्रम करने से परमात्मा अवश्य कृपा करेंगे, उद्योग सफल होगा और श्रमकर्त्ताओं की कीर्त्तिपताका अवश्य वशिष्ठ गौतम जैमिनि व्यासादिकों के नीचे २ फहरायगी। परन्तु जबतक हम वैदिक पदार्थ विज्ञान में उस उच्चपद के ज्ञानी न हों तब तक भी इस समय तक जिन देवतों को हम जानते हैं उन का और उनके सहचरितों का यजन अवश्य करें जिससे सांसारिक इन्द्रियोपभोग्य सुख, वायु आदि भौतिक देवतों से प्राप्त हो सके। हमने विचारपूर्वक पूषा द्यौः आदिका पता ज्ञात करके सामवेदभाष्यमें यथावसर प्रकाशित किया है वहां देखिये। आगे २ जैसे २ ज्ञान बढ़ेगा, देवज्ञान होगा, इस में सन्देह नहीं॥

अब विचारणीय यह है कि सूर्य चन्द्रादि बहुत से दूरवर्त्ती लोकों और उनके तारतम्य से उत्पन्न हुवे चैत्रादि मासों, प्राणादि वायुओं तथा आकाश में दूरवर्त्ती विद्युदादि पदार्थों का यजन हम किसप्रकार करें। वह कौनसा दूत है? जिससे हम इन दूर और समीपवर्त्ती देवतों को पूजा की सामग्री पहुंचा सकें, उन को प्रसन्न कर सकें, स्पर्शादि का सुख पासकें, उत्तम जल वायु ओषधि फल पुष्पादिकों को पाकर आनन्द से जीवन व्यतीत करसकें वह दूतजो समीपवर्त्ती और दूरवर्त्ती समस्त देवतोंको उनके भागपहुंचा सकता है, नीचे लिखे वेद मन्त्रों से समझिये कि क्या है? यथा—

अग्निꣳ स्तोमेन बोधय समिधानो अमर्त्यम्।
हव्या देवेषु नो दधत्॥ यजुः अ० २२ मं० १५॥ स हव्य

हव्यवाडुशिग्दूतश्चनोहितः । अग्निर्धिया समृण्वति ॥ १६ ॥ अग्निं दूतं पुरोदधे हव्यवाहमुपब्रुवे । देवाँ आसादयादिह ॥ १७ ॥

समिधानः [अग्निः] नो हव्या हव्यानि देवेषु दधत् (दध्यात् लेट् प्रयोगः चोलोपो लेटि वा ३।४।९७ [तस्मात्] अग्निं स्तोमेन बोधय ॥१५॥ अमर्त्यो हव्यवाडुशिग्दूतश्चनोहितोऽग्निर्धियासमृण्वति १६ ॥ हव्यवाहं दूतं पुरोदधे उपब्रुवे (च) (सोऽग्निः) इह देवान् आसादयात् ॥१७॥

(समिधानः) समिधाओं से प्रदीप्त अग्नि (नो हव्या देवेषु दधत्) हमारे हव्य पदार्थों को देवतों के पास पहुंचावे, इसलिये (अग्निं स्तोमेन बोधय) अग्नि को इन्धनसमूह वा यज्ञ से प्रदीप्त कर ॥ १५ ॥ (अमर्त्यः) अमर (हव्यवाट्) हव्य लेजानेवाला (उशिक्) कान्तिवाला उशिक्—कान्तिकर्मा। निघं० २।६ (दूतः) देवतों के बुलाने और भाग पहुंचानेवाला (चनोहितः) भोज्य अन्न लिये हितकारक । चनः=दायतेरन्ने ह्रस्वश्च । उणा० ४ । २०० (अग्निः) अग्नि (धिया) अग्न्युपयोग वाले कर्म से । धीरिति कर्मनाम निघं० २ । १ (समृण्वति) सङ्गत होता है, ऋण्वति—गतिकर्मा निघं० १ । १४ ॥ १६ मैं (हव्यवाहम्) हव्य लेजाने वाले (अग्निंदूतम्) अग्नि दूत को (पुरोदधे) पुरोहित अर्थात् अग्रणी करता हूं "अग्निःकस्मादग्रणीर्भवति । निरु० ७ । १४" (उपब्रुवे) अन्यों को भी उपदेश करताहूं (इह देवान् आसादयात्) इसयज्ञ में वह अग्नि देवतों को पहुंचावे ॥ १७ ॥

अग्निं दूतं वृणीमहे होतारं विश्ववेदसम् । अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम् ॥ सामवेद प्रपाठक । १ अध्याय १ मन्त्र ३ ॥

[वयम्] अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम्, होतारं, विश्ववेदसं दूतमग्निं वृणीमहे ॥ हम (अस्य यज्ञस्य) इस यज्ञ के (सुक्रतुम्) सुफल करने वाले (विश्ववेदसम्) चक्षुर्विषयक ज्ञानके लिये सबके सहायक [अग्नि से प्रकाश होता प्रकाश से आंखों को सहायता मिलकर घटपटादि पदार्थों का ज्ञान होता है] (दूतमग्निम्) देवदूत अग्नि को (वृणीमहे) यज्ञार्थ वरण करते हैं अर्थात् अग्न्याधान करते हैं ॥ १ ॥ विशेष हमारे किये सामवेदभाष्य में देखिये ॥

अग्निं दूतं पुरोदधे हव्यवाहमुपब्रुवे । देवाँ आसादयादिह ॥ ऋ० मं० ८ । सू० ४४ । मं० ३

अन्वय—इस का ऊपर लिखे यजुर्वेदमन्त्र के तुल्य ही है ॥

यजमान को विचारना चाहिये कि अग्निदूत को आगे रक्खूं, अन्यथा भाग करूं,मैं सामने बुलाऊं, क्योंकि वह हव्यवाह—हव्य पदार्थों और देवतों को पहुंचाने वाला है और वह इस यज्ञ में देवों को प्राप्त करा वे ॥

तात्पर्य यह है कि अग्नि देवता अन्य सब देवतों का दूत है, वह हव्य पदार्थ ले जाता है, वह देवतों को बुला बुला कर उनके भाग उन्हें पहुंचाता है। यजमान को यज्ञ के आरम्भमें अग्नि दूत का आवाहन अर्थात् अग्नि कुण्डमें अन्याधान मंत्र द्वारा अग्निका स्थापन करना चाहिये तत्पश्चात्—

अग्नये स्वाहा। सोमाय स्वाहा।

इन्द्राय स्वाहा। प्रजापतये स्वाहा।

इत्यादि मन्त्रों से उस २ देवता के नामोच्चारणपूर्वक आहुति देनी चाहिये। इन " आघारौ " और " आज्यभागौ " इन शब्दों से याज्ञिक लोग सङ्केत करते हैं। अग्नि प्रज्वलित होकर देवतों के भाग उन्हें पहुंचाता है और प्राणादि ११ रुद्रों, चैत्रादि १२ आदित्यों, अग्न्यादि ८ वसुवों को तथा अन्य देवता भी जो अग्नि के ऊपर वायु में रहते हैं, बुला २ कर भाग दे कर विसर्जन करता है। यह बात वे लोग सुगमता से समझ सकतेहैं जिन्हों ने विज्ञान शास्त्र पढ़ा है और जानतेहैं कि अग्नि के ऊपर का वायु लघु हो जाता है अर्थात् अग्नि द्वारा भाग ले कर वायु और उसमें स्थित अन्य प्राणादि देवता फूलते हैं और जिस कारण लघु वा हलका पदार्थ नीचे से ऊपर को जावे, यह स्वाभाविक नियम है, इसी कारण अग्नि के ऊपर का वायु भी अपने सहवर्त्ती देवगणों सहित आकाश में ऊपर चला जाता है। जब उसके हटने से कुछ स्थान रिक्त (खाली) होता है तो उसे चारों ओर के वायु और उस के सहवर्त्ती अन्य देवता भर देते हैं। जब वे भी अपना २ भाग पा चुकते हैं तो फूल कर लघुभावापन्न होने से ऊपर चले जाते हैं इसी प्रकार अपने सामर्थ्यानुसार और यजमान के द्रव्यानुसार अग्नि दूत सब देवों का भाग बांटता है॥

आप सन्देह न करें कि देवता जड़ हैं तो वे अपने २ भाग को किस प्रकार पहचानेंगे और लेंगे, दूत अग्नि भी जड़ है वह कैसे—अग्नये स्वाहा। सोमाय स्वाहा। इन्द्राय स्वाहा। इत्यादि प्रकार से देवनामोच्चारणपूर्वक दी हुई आहुतियों को उस २ देवता को पहुचायगा? और शाकल्य (हव्य)

पदार्थ भी सब इकट्ठा ही होमा जाता है, यह कैसे भिन्न२ देवता के स्वभावानुकूल उसे प्राप्त हो सकेगा। स्वभावविरुद्ध द्रव्य प्राप्त होनेसे देवता की प्रसन्नता के स्थान में और अप्रसन्नता हो तो यजन का फल न होगा॥

यद्यपि अग्न्यादि भौतिक ३३ देव सभी जड़ हैं और इस लिये वे प्रार्थनोपासना योग्य नहीं, यह पहले कह चुके हैं तथापि देवतागण ईश्वरदत्त दिव्य शक्ति द्वारा एक ही हवन कुण्ड में एक ही अग्नि दूत होते हुए भी अपने २ भाग का ग्रहण और दूसरे देवतों के भाग का त्याग कर देते हैं। आप इस दृष्टान्त से अच्छे प्रकार समझ जांयगे, जोआगे वर्णन किया जाता है। देखिये ईश्वरदत्त दैवी शक्ति का कैसा प्रभाव है कि एक ही खेत वा गमले में ४। ५ स्वभाव के ४। ५ बीज बोये जांय और एकही पात्र से एक एक ही प्रकार का जल एक ही प्रकार का वायु एक ही प्रकार की खाद्य (पांस) के उगने परभी मरिचोंका बीज तो उसी एक प्रकारकी भूमि जल वायु, खाद्य में से केवल तिक्त (कटु) अंश को लेता है, दूसरा बीज जो उसके अतिसन्निकर्ष में है, नीम्बू का होने से खट्टा केवल खट्टे ही अंश जल वायु पृथ्वी और खाद्य में से लेता है, इसी प्रकार मीठा बीज मिष्ट ही का ग्रहण करता और कषाय कटु आदि जितने प्रकारके बीज होंगे अपने २ ग्राह्यांश का ग्रहण और त्याज्यांश का त्याग ही करते हैं तो देवगणों में भी इसी प्रकार अपनेर स्वभावानुकूल द्रव्यांशका ग्रहण होना सुगम है॥

आप यह प्रश्न करेंगे कि जब देवता जड़ हैं तो ज्ञानाधिकरण नहोने से आहुति ग्रहण करके प्रसन्न और न देने से अप्रसन्न कैसे हो सकते हैं और जब वे प्रसन्न वा अप्रसन्न नहीं हो सकते तो वे सुख दुःख भी नहीं दे सकते। उत्तर यह है कि प्रसन्नता वा अप्रसन्नता का चेतन में ही नियम नहीं किन्तु अच्छे को प्रसन्न और बुरे को अप्रसन्न कहते हैं और अच्छापन वा बुरापन जड़ पदार्थों में भी होता ही है। जैसे बूझते हैं कि " आप का चित्त प्रसन्न है? " अर्थात् अच्छा है?। नभः प्रसीदति शरदि-शरद् ऋतु में आकाश अच्छा लगता है। प्रसन्नजलस्तडागः-तालाब अच्छे जल वाला है। प्रसन्नोगुरुः-अध्यापक अच्छे अर्थात् अनुकूल हैं। [उर्दू में मिज़ाज खुश है, खुशबू आती है, यह फूल खुशनुमा है। इत्यादि प्रयोगों में खुश शब्द जड़पदार्थों का विशेषण है] तात्पर्य यह है कि प्राणापानादि ११ रुद्र, चैत्रादि १२ आदित्य, अग्नि, जल, वायु, सूर्य, बिजली आदि सब पदार्थों की अनुकूलता का नाम ही उन उन की प्रसन्नता है और प्रतिकूलता का

नाम अप्रसन्नता है और जब जड़ पदार्थों में अनुकूलता प्रतिकूलता स्पष्ट है तो अनुकूलता में सुख तथा प्रतिकूलता में दुःख अवश्य ही सम्भव है। इस कारण यदि हम सुख की प्राप्ति और दुःखों से बचना चाहें तो वेदविहित ईश्वर की आज्ञानुकूल यज्ञ करें। यदि कोई कहे कि प्रायः यज्ञ किये जाते हैं परन्तु तदनुकूल सुख प्राप्ति नहीं होती। इस का कारण यह है कि यज्ञ के समस्त अङ्ग पूर्ण नहीं होते, जैसा न्याय का सिद्धान्त है कि-

कर्तृकर्मसाधनवैगुण्यात्

जब २ कभी किसी सम्भव कार्य में सफलता प्राप्त नहीं होती तब १ कर्त्ता कर्म और साधन इन तीनों में से एक दो वा तीनों में कुछ न कुछ दोष होता है। तदनुसार यज्ञ में भी कई प्रकार की विगुणता होती हैं। जिन में से प्रथम कर्तृवैगुण्य ही बड़ा भारी है अर्थात जैसे यज्ञकर्त्ता और जितने और जहां २ चाहियें वैसा नहीं हो पाता। जिस २ प्रकार के यज्ञ में ऋत्विज् होता, ब्रह्मा, उद्गाता, अध्वर्यु होने चाहियें वैसे ठीक प्रायः नहीं हैं। विशेष कर ब्रह्मा का मिलना ही दुस्तर है और प्रचरित रीति में जो ५७ कुश का ब्रह्मा रखलिया जाता है वह तो सर्वथा ही निष्फल है। बहुत लोगों ने हम से कहा है कि क्या सब कर्त्तव्यधर्मविषयक विधिनिषेध तुम चार वेदों के मन्त्रों से दिखला सकते हो ? यदि दिखला सकते हो तो बतलाओ वद के किस मन्त्र में ब्रह्मा, होता, उद्गाता और अवध्र्यु का विधान है ? ॥

उत्तर-प्रथम तो हम यह नहीं कहते कि हम मन्त्रों में साक्षात् ही सब विधि दिखला सकते हैं किन्तु हमारा सिद्धान्त तो जैमिनीय मीमांसा के-

विरोधेत्वनपेक्ष्यं स्यादसति ह्यनुमानम् ।

मी० अ० १ पा० ३ सू० ३

अनुसार यह है कि वेद प्रमाण के साक्षात् विरुद्ध बातें न मानी जावें परन्तु विरोध भी न हो और साक्षात् विधिवाक्य भी न मिले तो अनुमान करना चाहिये कि यह विधि किसी प्रकार किन्हीं ऋषियों ने वेद में साक्षात् वा ध्वनि आदि से देखा ही होगा। तथापि उद्गाता आदि का विधान नीचे लिखे मन्त्र में मूलरूप पाया जाता है:-

ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान् गायत्रं त्वो गायति

शक्वरीषु । ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां, यज्ञस्य मात्रां विमिमीत उ त्वः ॥

ऋ० १० । ७१ । ११

अन्वितव्याख्यानम्–[त्वशब्दः सर्वनामसु पठित एक शब्दपर्यायः] एको होता (पुपुष्वान् ऋचां पोषमास्ते) स्वकर्माधिकृतत्वम् यत्तत्र पठिता ऋचो यथा विनियोगविन्यासेन पोषयति सार्थकाः करोति (त्वः शक्वरीषु गायत्रं गायति) एक उद्गाता शक्वर्युपलक्षितासु(छन्दो) विशेष-युक्तास्वृक्षु गायत्रं गायत्रादिनामकं साम गायति (त्वो ब्रह्मा जातविद्यां वदति) एको ब्रह्मा, अपराधे जाते तत्प्रतीकारकर्त्रीं विद्यां वदति (त्वः यज्ञस्य मात्रां विमिमीत उ) एकोऽध्वर्युर्यज्ञस्य मात्रामियत्तां विमिमीते विशिष्टतया परिच्छिनत्ति ॥

अर्थात् एक होता ऋचाओं को विनियोगानुसार संघटित करता है, एक उद्गाता शक्वर्यादिच्छन्दोयुक्त गायत्र गान करता है, एक ब्रह्मा यज्ञ में कुछ अपराध वा भूल चूक होने पर उसका प्रतीकार करता है और एक अध्वर्यु यज्ञ के परिमाण वा इयत्ता को निर्धारित करता है ॥

ऊपर लिखे ४ ऋत्विज् ४ वेदों के ज्ञाता यज्ञ की पूर्ति करते हैं। इन में से "१–होता" है जिस का यह काम है कि मन्त्रसंहिता में यथास्थान पठित मन्त्रों को उस यज्ञ विशेष में विनियोगके अनुसार ठीक ठाक करे। जैसे पाणिनि मुनि ने अष्टाध्यायी में स्वाभिमत प्रकरणानुकूल सूत्र पढ़े हैं, उन से वैयाकरण लोग जब कोई प्रयोग सिद्ध करते हैं तब विद्यार्थी को सिखाते समय स्लेट आदि पर विग्रह (असिद्धरूप) लिख कर फिर जिन २ सूत्रों की उस प्रयोग के सिद्ध करने में आवश्यकता होती है उन२ सूत्रों का उच्चारण करते हुए उन २ सूत्रों के अर्थानुसार कार्य करके प्रयोग सिद्ध करते हैं, इसी प्रकार किसी यज्ञविशेष को सिद्ध करने के लिये होता नामक ऋत्विज् को चाहिये जो यज्ञ को ठीक २ सिद्ध करे। २–"उद्गाता" है जो शक्वरी आदि वेद के छन्दोयुक्त सामादिका गान जहां २ अपेक्षित है वहां २ ठीक करे। ३–"अध्वर्यु" है जो यज्ञ की मात्रा (जैसे ओषधि की मात्रा ठीक हो तो आरोग्य करती है) का परिमाण निर्धारित करे। ४–"ब्रह्मा" है जो पहिले ३ ऋत्विजों के कार्य में कलाकलावेक्षण करे करे अर्थात् यज्ञ में कोई करणीय कर्म छूट न जावे तथा अकरणीय क्रिया न

जावे। यह बुद्धि रक्खे और जब कभी कुछ अन्यथा कर्म हो जावे तब उस का प्रतीकार वा प्रायश्चित्त करदेवे। ब्रह्मा के कार्य्य को ऊपर लिखे वेदमन्त्र में देख कर ऋषियों ने अपने २ ग्रन्थों में और विशेष स्पष्टता से निरूपण किया है। यथाहि छन्दोगा आमनन्ति-

यज्ञस्य हैष भिषक् यद् ब्रह्मा यज्ञायैव तद्भेषजं कृत्वा हरति॥

अर्थात् यज्ञ का वह वैद्य है, जो कि ब्रह्मा है, वह यज्ञ के लिये ही औषध बना के पहुंचाता है। तथा-

यज्ञस्य निरिष्टं सन्दधाति भेषजकृतो ह
वा एष यज्ञो यत्रैवंविद् ब्रह्मा भवति॥

(कौथुमशाखीय छान्दोग्य प्र० ४ ख० १७)

अर्थात् ब्रह्मा यज्ञ को निर्दोष सन्धान करता है क्योंकि वह औषधकृत है, जिस में ऐसा विद्वान् ब्रह्मा होता है॥

यदृक्तोरिष्येत् भूःस्वाहेतिगार्हपत्ये जुहुयात्।

(कौथु० शा० छा० प्र० ४ खं० १७)

जब किसी ऋचा का अपराध होने से दोष उत्पन्न हो तो ब्रह्मा "ओं भूः स्वाहा" इस मन्त्र से गार्हपत्य अग्नि में आहुति देकर उसका प्रतीकार वा प्रायश्चित्त करे॥

आज कल वैदिककर्मकाण्ड के अश्रद्धालु पुरुष शङ्का करेंगे कि किसी ऋचा के पाठमात्र में कोई भूल चूक हो जाना कितनी बड़ी बात है जिस के लिये ब्रह्मा को प्रायश्चित्त की आवश्यकता पड़े?

विचार करके देखा जावे तो किसी वेदमन्त्र के पाठ में भेद पड़ना बड़ा भारी अपराध है। क्या वे अश्रद्धालु पुरुष नहीं जानते हैं कि सम्प्रति राजकीय निर्धारित नीति (क़ानून) वा किसी उच्चाधिकारी (गवर्नरादि) की राज के व्याख्यान (स्पीच) का अनुवाद करते हुवे प्रयोजनीय विषय में, भूल वा जान के कोई अन्यथा बोले जिसे उससे समझावे और तदनुसार भूल का काम करे वा करावे तो अवश्य अपराधी है। जब कि लोक में राजादि के प्रकाशित आज्ञापत्र वा क़ानून के शब्दों में अन्यथा भाव करना वा मानना अपराध है जिस में कि बहुधा राजादि की भूल भी सम्भव है सम्भव ही नहीं किन्तु प्रायः पहिली २ आज्ञाओं का संशोधन राजा वा

राजसभा किया करती हैं तो जिस वेद का प्रकाशक परमात्मा है, जिसमें अज्ञान का लेश नहीं, जिस के सृष्टिस्थ तथा वेदप्रतिपादित धर्म नियम अटूट निर्भ्रान्त और त्रैकाल्याबाध्य हैं, उस परमात्मा की आज्ञारूप वेद वाक्यों का अन्यथा विनियोग अन्यथाव्यवहार आदि करना अपराध क्यों नहीं जिन वेद और ईश्वर पर पूर्ण श्रद्धा विश्वास है उनके लिये विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं और जो वेद तथा ईश्वर पर अश्रद्धालु हैं उन के प्रति हम यहां कुछ नहीं लिखते किन्तु "वेद" व " ईश्वर " ये दो अधिकरण (हैडिङ्ग) देकर उस २ प्रकरण में फिर कभी यथावकाश लिखेंगे। यहां यह प्रकरण में इतना ही पर्याप्त है ॥

जिस प्रकार वेदमन्त्रद्वारा हमने ब्रह्मा, होता, उद्गाता, अध्वर्यु इन चार ऋत्विजों के कामों का यह विनियोग लिखा है इसी प्रकार उक्त मंत्र की व्याख्या करते हुए निरुक्तकार यास्कमुनि कहते हैं:-

इत्यृत्विक्कर्मणां विनियोगमाचष्टे। ऋचामेकः पोषमास्ते पुपुष्वान्होतर्गर्चनी। गायत्रमेको गायति शक्करीषूद्गाता॥ गायत्रं गायतेः स्तुतिकर्मणः। शक्वर्यऋचः शक्नोतेः॥ इत्यादि। निरुक्त अ० १ खं० ८॥

अर्थात् (ऋचां त्व०) इस मन्त्र में ऋत्विजों के कामों का विनियोग [ईश्वर] कहता है। एक होता ऋचाओं को यथास्थान उच्चारित करता है। एक उद्गाता मन्त्रों में गान गाता है। गायत्र शब्द स्तुत्यर्थक 'गै' धातु से है शक्करी ऋचाओं का नाम है। इत्यादि ॥

ऐसा ही लाट्यायन सूत्रों में लिखा है:-

तान्युद्गातृकर्मेकउद्गाता सामवेदेनेति श्रुतेः। लाट्या० प्रपा० १ कं० १० सू० ७ तथा एकश्रुतिविधानान्मन्त्रान् कर्माणि चोद्गातैव कुर्य्यादनादेशे॥ प्र० १ कं० ९ सू०४॥

उक्त कर्म उद्गाता करे क्योंकि "उद्गाता सामवेदेन" उद्गाता सामवेद से [गावे] यह श्रवण करते हैं, ऐसा कोई २ आचार्य मानते हैं। एक श्रुतिविहित मन्त्रों और कर्मों को उद्गाता ही पढ़े और करे यदि उस मंत्र के पाठ और कर्म के करने के लिये अन्य को न कहा गया हो ॥

तात्पर्य यह है कि जैसे:—

यानि वैनमध्वर्युर्ब्रूयात् तानि गायेत् ।

लाट्या० ४ । १० । ९ ॥

अर्थात् जिन २ मन्त्रों के पढ़ने को अध्वर्यु, ब्रह्मा से कहे उन्हें ब्रह्मा गावे । इस में "ब्रह्मा" पद की अनुवृत्ति आती है क्योंकि:—

सर्वत्र ब्रह्मा दक्षिणत उदङ्मुखः कुर्याद्धोमेभ्योऽन्यत् ।

लाट्या० ४ । ९ । १ ॥

यहां से ब्रह्मा का कार्य बताते चले आते हैं । तो जिस प्रकार यहां जिन २ कामों के करने को ब्रह्मा के लिये आदेश है ऐसे ही जहां २ जिस २ कर्म का जिस २ ऋत्विज् के लिये आदेश (आज्ञा) है उस २ को छोड़कर शेष अनादिष्ट सब विधियों को उद्गाता करे । यह "अनादेशे" इस पद से ध्वनित होता है । तात्पर्य यह है कि यज्ञसम्बन्धी जिन कामों के करने वा जिन मन्त्रों के गान के लिये यजमान, पत्नी, अध्वर्यु आदि में से किसी के लिये विशेष विधान है उन को तो वह आदिष्ट पुरुष ही पढ़े परन्तु अन्य सामान्य सब गान उद्गाता ही करे ॥

इस प्रकार मंत्र में सूक्ष्म और संक्षिप्त रीति से कहे विषयों को ऋषि लोग अपने २ व्याख्यानों में उसी प्रकार विस्तारपूर्वक निरूपण करते आये हैं जिस प्रकार इस समय में भी वेद के गम्भीर आशयों को समझने वाले विद्वान् वेद के किसी एक मन्त्र को लेकर व्याख्यान देना आरम्भ करते हैं । इस का कारण भी बहुत लोग हम से पूछते हैं कि ऋषियों ने जिन मन्त्रों की व्याख्या रूप अपने व्याख्यान दिये कहे वा लिखे, उन्होंने सर्वत्र अपने व्याख्यान का मूल वेदमंत्र क्यों नहीं लिखा । निरुक्त और शतपथब्राह्मणादि में जो २ व्याख्यान हैं उन में से बहुत सी व्याख्याओं के मूल मंत्र तो पाये जाते हैं, जैसे शतपथ ब्राह्मण में "इषेत्वा०, प्रत्युष्टꣳ रक्षः" इत्यादि बहुत से मंत्रों की प्रतीकें उपस्थित हैं तथापि निरुक्त और ब्राह्मण ग्रंथों में जो कुछ लिखा है वह सब सामयिक भाष्यकारों, टीकाकारों और अनुवादकर्त्ताओं के समान आदि से अन्त तक प्रतिमंत्र की व्याख्या उपस्थित नहीं है जिस से चाहे जिस मंत्र की व्याख्या निरुक्त वा ब्राह्मण ग्रन्थों में से यथासंभव निकाल कर देख सकें ॥

उत्तर—आज कल भी प्रायः वेद शास्त्रादि के जानने वाले वेद शास्त्रादि

का आशय लेकर तदनुकूल व्याख्यान देते हैं परन्तु यह आवश्यक नहीं कि वे अपने २ व्याख्यानों में वेद शास्त्रादि के प्रमाणों को सर्वत्रही बोलते जावें किन्तु कहीं २ संशयनिवृत्यर्थ वा शोभार्थ वा विश्वासार्थ प्रमाण भी देते हैं और बहुत सा व्याख्यान का भाग केवल व्याख्याताओं की निज उक्तियों से भी पूर्ण रहता है तथापि इन सब व्याख्याताओं के व्याख्यान वेद शास्त्रानुकूल उस समय तक आवश्यक माने जाते हैं जिस समय तक कि उस विषय के विरुद्ध वेद शास्त्रादि से स्पष्ट प्रमाण न मिलें। दूसरा कारण यह भी है कि जैसे२ सृष्टि में व्यवहार बढ़ता गया वैसे २ स्मरण शक्ति को कार्य बढ़ जाने से याद रखना कठिन होता गया। अतएव आरम्भमें व्याख्यानों की न्यून आवश्यकता थी फिर क्रमशः बढ़ती गई। यहां तक कि जिस रीति से सायणाचार्यादि ने आदि से अन्त पर्यन्त सब मंत्रों का व्याख्यान लिखा है वह रीति भी सुगमता में पर्याप्त (काफ़ी) नहीं समझी जाती और भिन्न २ छापने वाले, पाठकों की सुगमता के लिये अनुक्रमणिका आदि और भी सुगमातिसुगम उपायों को रच कर प्रकाशित करते जाते हैं तथापि सुगमता की पराकाष्ठा अब तक नहीं मिली और न मिलेगी। तात्पर्य यह है कि ब्राह्मणादि ग्रन्थों की रचना के समय में उस समय के व्यवहारानुसार इतनी व्याख्या बहुत समझी जाती थी जितनी कि उन में है परन्तु अब उतने से बड़ी कठिनता समझी जाती है और समझी जानी अनुचित नहीं क्योंकि व्यवहार एतना बढ़ गया कि भारतवर्ष का व्यवहार यद्यपि अन्यदेशीय व्यवहारों के समक्ष कुछ वस्तु नहीं, तथापि भारत ही में पिछली शताब्दी के व्यापारों से तुलना करो तो बड़ा अन्तर पाया जायगा॥

अब हम यह वर्णन करेंगे कि कर्मकाण्ड और मुख्य कर देवयज्ञ की ब्रह्मचारी गृही और वानप्रस्थ ही को क्यों आवश्यकता है और संन्यासाश्रमी को इस की आवश्यकता क्यों नहीं और संन्यासाश्रम में क्यों इस का त्याग विधिपूर्वक कराया जाता है?

आप जानते हैं कि जिस २ अवस्था में जिन २ कर्मों का उपयोग होता है उस २ अवस्था में वह २ धर्म और जिन २ अवस्था में जिन २ कर्मों का अनुपयोग वा व्यर्थता वा विपरीत फल हो उस २ अवस्था में वह वह अधर्म वा अकर्त्तव्य हो जाता है। जैसे क्षुधा में भोजन करना पथ्य, धर्म वा उचित है परन्तु तृप्ति में बलात्कार से भोजन करना कराना केवल अनावश्यक वा व्यर्थ ही नहीं किन्तु अपथ्य अधर्म अनुचित और अकर्त्तव्य है। तथा यह

भी प्रसिद्ध है कि मनुष्यजीवन के सोपानरूप चार आश्रमों में एक आश्रम का निषेध कर्त्तव्य दूसरे आश्रम में अकर्त्तव्य हो जाता है, जैसे ब्रह्मचर्याश्रम में स्त्रीसङ्ग वर्जित है परन्तु गृहस्थ में:—

ऋतौ भार्य्यामुपेयात् ॥ १ ॥ अथवा–

ऋतुकालाभिगामी स्यात्स्वदारनिरतः सदा ।
पर्ववर्जं व्रजेच्चैनां तद्व्रतोरतिकाम्यया ॥ २ ॥

मनु अ० ३ । ४५

अर्थ-ऋतुकाल में स्त्रीगमन करे ॥ १ ॥ ऋतुकाल में केवल अपनी स्त्री से पर्व छोड़ कर रतिकामनापूर्वक स्त्री व्रत होकर गमन करे ॥ २ ॥

इत्यादि धर्मशास्त्रों की आज्ञानुसार गृहस्थ के लिये ऋतुकाल में स्त्री गमन करना आवश्यक है प्रत्युत न करने से प्रायश्चित्ती हो जाता है। और ब्रह्मचर्य्यावस्था में गन्ध, माल्य, पर्य्यङ्कशयन का निषेध रहता है परन्तु समावर्त्तन संस्कार में ठीक उस के विरुद्धः–

तं प्रतीतं स्वधर्मेण ब्रह्मदायहरं पितुः ।
स्रग्विणं तल्प आसीनमर्हयेत् प्रथमं गवा ॥

मनु ॥ अ० ३ श्लोक ३

अर्थ—स्वधर्मानुसार पिता वा आचार्य से वेदरूपी दायके भागी, माला धारण किये हुवे, पर्य्यङ्क पर बैठे हुये उस गुरुकुल से प्रत्यावृत्त (लौटकर आये हुये) ब्रह्मचारी का प्रथम गौ से सत्कार करे ॥

पर्य्यङ्क पर बैठाना और माला का धारण करना तिस पर भी सामान्य प्रकार से नहीं किन्तु–

ओं यद्यशोऽप्सरसामिन्द्रश्चकार विपुलं पृथु ।
तेन संग्रथिताःसुमनसआबध्नामि यशोमयि ॥

(देखो संस्कारविधि समावर्त्तन प्रकरण) इस मन्त्र को पढ़ कर पुष्प-माला धारण कराई जाती है, जिसके लिये ब्रह्मचर्याश्रममें मनु लिखते थे कि-

गन्धं माल्यं रसान् स्त्रियः ॥ मनु० २ । १७७ ॥

ब्रह्मचारी गन्धमाल्य (पुष्प) और स्त्री का सेवन न करे ॥

यह कार्य जो ब्रह्मचर्य्यावस्था में वर्जित था, समावर्त्तन संस्कार समय में कर्त्तव्य हो गया और होना चाहिये ॥

हमारे पाठक महाशय ऊपर लिखे पुष्पमाला के धारण में विनियोग किये मन्त्र का अर्थ जानने को उत्सुक होंगे, अतः इस मन्त्र की व्याख्या नीचे प्रकाशित की जाती है:—

यद्यशोऽप्सरसामिन्द्रश्चकार विपुलंपृथु।
तेन संग्रथिताः सुमनस आबध्नामि यशो मयि॥

अन्वयः-इन्द्रोऽप्सरसामंशुभिर्यद्विपुलं पृथु यशश्चकार, तेन संग्रथिताः सुमनसः मयि यशो यथास्यात्तथा आबध्नामि॥

(इन्द्रः) सूर्य (अप्सरसाम्) अपनी किरणों से (यद्विपुलंपृथुयशः) जिस बड़े विस्तृत यश को (चकार) करता है (तेन संग्रथिताः) उस यश से गुन्थे हुये (सुमनसः) पुष्पों को (मयि यशः) जिससे मुझमें यश और शोभा हो (आबध्नामि) धारण करता हूं। इन्द्र सूर्य का नाम है, इस में प्रमाण—

एष एवेन्द्रो य एष तपति। शतपथ ब्रा० कां० १ अ० ६ ब्रा० ३ कं० १८॥

अर्थात् यही इन्द्र है जो यह तपता है (सूर्य)॥

"अप्सरसाम्" यह षष्ठी विभक्ति तृतीया के स्थान में आदेश हुई है इस में प्रमाण—

सुपां सुलुक् पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्यायाजालः

(अष्टाध्यायी। अ० ७ पा० १ सू० ३९)

इस सूत्र पर यह वार्त्तिक है कि—

सुपां सुपो भवन्तीति वक्तव्यम्

अर्थात् सुपों को सुप् आदेश होते हैं। इस से भिस् को आम् आदेश जानिये। अप्सरस् की निरुक्ति यह है कि "अप्सु धावन्ति इति अप्सरसः" जब पानी में सूर्यादि की किरण पड़ती हैं, तब पानी के साथ चलती हिलती प्रतीत होती है "सर्त्तेरप्पूर्वादसिः। उणा ४। २३७"। अप्पूर्वक 'सृ' धातु से असि प्रत्ययान्त "अप्सरस्" शब्द सिद्ध होता है॥

"चकार" इस क्रिया पद का अर्थ "करता है" यह वर्त्तमानकाल के समान देख कर किन्हीं पुरुषों को सन्देह हो सकता है कि लिट् लकार का प्रयोग परोक्षानद्यतन भूत में होता है, वर्त्तमान कालिक अर्थ कैसे हुवा॥ उत्तर—

छन्दसि लुङ् लङ् लिटः । अ० ३ पा० ४ सू० ६

अर्थात् छन्दोविषय में सामान्य काल में लुङ् लङ् और लिट् लकार होते हैं ॥

इस मन्त्र पर विशेषार्थ लिखने की आवश्यकता है। जिस विपुल विस्तृत यश को सूर्य अपनी किरणों द्वारा करता है। उस यश से ग्रथित पुष्पों को यशोर्थ धारण करता हूं। इसका तात्पर्य यह है कि रक्त विरक्त पुष्पों में जो रक्त है वह सूर्य की किरणों से उत्पन्न हुआ है और इसी कारण सूर्य के यश को विस्तारित करता है। सूर्य की किरणें ७ रक्त की होती हैं जिन के संयोग से सूर्य की धूप जिन पदार्थों पर पड़ती है उनके रक्तों की उत्पत्ति और स्वरूप के प्रकाश का हेतु होता है क्योंकि सूर्य तेज का पुंज है और—

तेजोरूपस्पर्शवत् ॥ वै० अ० २ आ० १ सू० ३ ॥

रूप और स्पर्श वाला तेज है। इसी कारण नाना पदार्थों में जो तेज है उसका प्रधानकारण तेजः पुञ्ज सूर्य पिण्ड है। विचार किया जावे तो यह बात विज्ञान से अच्छे प्रकार निष्पन्न है ॥

अब इस प्रकरण पर आते हैं। तात्पर्य यह है कि पुष्पमाला धारण ब्रह्मचर्याश्रम में वर्जित है। उसी का समावर्त्तन संस्कार में मन्त्रपूर्वक धारण करने का विधान है। इसी प्रकार बहुत ऐसे कर्म हैं जो एक अवस्था वा आश्रम में विहित हैं और वही किसी दूसरे आश्रम में निषिद्ध हैं। ऐसे ही देव यजन भी जो ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ आश्रमों में विहित है, वही संन्यासाश्रम में निषिद्ध है। यथा—

अनग्निरनिकेतः स्याद् ग्राममन्नार्थमाश्रयेत् ।

(मनु ६ । ४३)

संन्यासी को गृह और गार्हपत्यादि तीनों अग्नि छोड़ देने चाहियें और केवल भिक्षार्थ ग्राम में जाया करे ॥

अग्नि ३ हैं। १—आहवनीय २—गार्हपत्य ३—दक्षिणाग्नि। इन तीनों अग्नियों में से आहवनीय में देवयजन, गार्हपत्य में वैश्वदेव, तथा दक्षिणाग्नि में मृत पितरों के प्रेतदेह का दक्षिण दिशा में जाकर अन्त्येष्टि संस्कार करना होता है। संन्यासी को इन तीनों को ही छोड़ कर निरग्नि होना चाहिये क्योंकि ब्रह्मचर्य आश्रम गृहस्थ की तैयारी, गृहस्थाश्रम वानप्रस्थाश्रम की तैयारी और वानप्रस्थाश्रम संन्यास की तैयारी के लिये है, परन्तु संन्यासाश्रम मोक्ष की तैयारी के लिये है। इस लिये मोक्षार्थी को वह काम

करना चाहिये जो मोक्ष का साधन हो। मोक्ष का साधन ईश्वरप्रणिधान के अतिरिक्त कुछ नहीं। हम इस यज्ञ व्याख्यान के आरम्भमें लिख चुकेहैं कि-

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥

अर्थात् ब्रह्मज्ञान के अतिरिक्त मोक्ष का दूसरा कोई मार्ग नहीं। और देवयज्ञ का फल ऊपर वर्णन किये अनुसार-रूप रस गन्ध स्पर्श शब्द है और वह इन्द्रियोपभोग्य है। इस लिये जो पुरुष ऐसी अवस्था में पहुंच गया कि जिस से वह इन्द्रियोपभोग्य विषयबन्धनों से छूट कर सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म के आनन्दानुभव से अपने को इस बड़े से बड़े सौभाग्य में पहुंचा सके तो फिर ऐसे कर्म जिन का फल बद्ध दशा में भोगना होगा, उस के लिये व्यर्थ ही नहीं किन्तु उस के उस प्रधानोद्देश के बाधक भी हैं। अतः इन्द्रियोपभोग्य विषयसुखभोगेच्छा से रहित संन्यासी के लिये कर्म काण्ड उपयोगी नहीं। परन्तु इस में सन्देह नहीं कि जब कोई पुरुष संन्यास धारण करके मोक्ष के लिये प्रयत्न करता है तो पूर्व आश्रम में जिन देवों का वह यजन करता रहा है वे मुंह लगाये देवता उसके चक्षुः रसना आदि इन्द्रियों में उस २ की शक्तिरूप से बैठे हुवे बड़े २ विघ्न करते हैं और कितनों को तो फिर अपनी ओर खैंच लेते हैं। आप ने कई एक वान्ताशी देखे होंगे जो एक बार इन्द्रियरूपी देवतों के चक्र से निकल कर फिर बेचारे इसी चक्र में आगये। शोक कि लोग इस कठिन आश्रम को ठट्ठा वा दिल्लगी समझ कर झट पग बढ़ा देते हैं। और जिस ब्रह्म को उपनिषद् बतलातीहैंकि-

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्।
अनाद्यनन्तंमहतः परं ध्रुवं निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते॥

जो ब्रह्म आकाश के गुण शब्द, वायु के गुण स्पर्श, तेज के गुण रूप, जल के गुण रस और पृथिवी के गुण गन्ध से रहित, अविनाशी, अनादि, अनन्त, बड़ों से बड़ा और कूटस्थ है उस को जान कर मृत्यु के मुख से छूट जाता है॥

इस प्रकार की ब्रह्मगति से च्युत होकर उसी पुराने भुक्तपूर्व, रूप रस गन्धादिरूपी बन्धन में लौट आते हैं। ऐसे पुरुष शोच्य और दयनीय हैं। आप जानते हैं कि ऐसा क्यों होता है। इसी लिये कि लोग पूर्व आश्रमों में देवयजनादि कर्मकाण्ड का श्रद्धापूर्वक विधिविहित रीति से यथावत्

अनुष्ठान नहीं करते जिससे उत्तरोत्तर अन्तःकरण की शुद्धि नहीं होने पाती। यही कारण है कि वेद के तीनों काण्ड अर्थात् कर्मकाण्ड उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड क्रमशः एक दूसरे के सहायक हैं अर्थात् कर्मकाण्ड उपासना काण्डका सहायकहै और उपासनाकाण्ड ज्ञानकाण्डका सहायकहै। जो पुरुष वेदों के सुप्रसिद्ध कर्म काण्ड में मुख्यदेवयजन को विधिपूर्वक करेगा वह अवश्य परमात्मा की उपसना का अधिकारी हो जायगा। और जो पुरुष उपासना वेदविहित रीति से करेगा और शनैः २ अभ्यास को बढ़ाकर परिपक्व होजायगा, क्या आप समझते हैं कि वह आश्रम से आश्रम को बढ़ता हुवा उपासक कभी इस कठिन परन्तु सर्वोत्कृष्ट वा परमोत्तम मोक्षाधिकारी होने की योग्यता दिखाने वाले संन्यासाश्रम से च्युत होजायगा? कभी नहीं। इसी लिये उपनिषद् बतलाती है किः—

कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥

कोई ही धीर पुरुष उस प्रत्यगात्मा को देखता है जो (आवृतचक्षुः) अर्थात् बाह्य विषयों से इन्द्रियें और इन्द्रियाधिष्ठात् मन को रोकता और मोक्ष की इच्छा करता है। इस उपनिषद्वाक्य में जो 'धीरः' पद दिया है बड़ाही उपयोगी और आवश्यक है क्योंकि अन्य शत्रुओंके रोकने वा वश में करने में इतना कष्ट वा कठिनता नहीं जितना इन इन्द्रियों के विषय रूपी शत्रुओं के आक्रमण का रोकना और इन को अपने वश में रखना कठिन है। इस लिये इन को वशमें लाने वाला पुरुष अवश्य धीर होना चाहिये। जो धीर नहीं वह इनको वशमें नहीं ला सकता और इन के वशमें लाये बिना वह भारी कार्य सिद्ध नहीं हो सकता इस के लिये इस पुरुष को आयु के चतुर्थ भाग में वा उस से पूर्व ही कमर कसनी चाहिये ॥

तात्पर्य यह है कि देवयजन तीनों काण्डों में प्रथम और अन्य काण्डों का सहायक है। इस लिये इस का विधिपूर्वक अनुष्ठान करने वाला पुरुष उपासना और ज्ञान द्वारा मोक्ष पासक्ता है तो सिद्ध हुवा कि कर्मकाण्ड और मुख्य कर देवयजन,पुरुष को ऐहिक पारमार्थिक दोनों प्रकार के सुखों का साक्षात् और परम्परा से पहुंचाने वाला है। मैं आशा करता हूं कि आपने देवयजन और उस के ऐहिक पारलौकिक फल को अच्छे प्रकार समझ लिया होगा और जितना कि इस कर्मकाण्ड का उपासना,ज्ञान वा परमार्थ से घनिष्ठ और आवश्यक सम्बन्ध है उसे भी समझ लिया होगा। मैं समझता हूं कि अब इस विषय पर सामन्य रीति और संक्षेप से जो कुछ लिखा गया है वह पर्याप्त है। अब मैं इस व्याख्यान को समाप्त करता हूं और आगे एक और उत्तम व्याख्यान का आरम्भ करूंगा॥ इति॥

॥ ओ३म् ॥

द्वितीय व्याख्यान

ईश्वर और उस की प्राप्ति

महाशय ! आप जानते हैं कि जिस विषय को वर्णन करने के लिये आज मैं आप के सन्मुख होता हूं, ऐसा आवश्यक, गम्भीर, कठिन और साधारणतया समझ में आने को अयोग्य है, जिस को सब लोग जानते हैं। संसार भर के मतमतान्तरों के उत्पन्न और प्रचरित होने का कारण मुख्य करके ईश्वरविषयिणी अनभिज्ञता है। यही नहीं किसी भी मत को न मान कर निरीश्वरवादी हो, उद्दण्डता के प्रचार का कारण भी यही है, आप यह भी जानते ही हैं कि वर्तमान काल में अन्य विद्याओं की खोज, प्रादुर्भाव और उन्नति में इतना अधिक प्रबल हो रहा है जिस से इस आत्म विद्याका नाममात्र संसार में रह गयाहै और लोग सांसारिक पदार्थों के ज्ञान की खोज में ऐसे लिप्त हो गये हैं कि प्रतिदिन नये २ विज्ञान का आविष्कार करते २ न तो अन्त आया न आवेगा और इसी प्रकार जड़ पदार्थों की खोज में रहते २ आत्मा अपने परमात्मा के स्वरूप को भूल कर उस से इतना दूर हो गया है कि मानो इस को पूर्व भी आत्मज्ञान न था और यह भाव इतना बढ़ गया है कि जिस किसी व्याख्यान में जाइये, आत्मविषयक संशय ही पाइयेगा और जिस समाज में जाइये इस विषय में शून्यप्रायता पाइयेगा। बड़ेबड़े नामधारी सभाओं के प्रधान, देश के हितैषी, धर्मोपदेष्टा और बाहर से भक्तरूप लोगों में भी प्रायः इस ज्ञान का अभाव नहीं तो संशय अवश्य पाइयेगा। महाशयो ! यह विषय ऐसा है जिस के विषय में आन्दोलन होकर भूमण्डल में ईश्वर का विश्वास, श्रद्धा, भक्ति आदि फैलने से सूखे प्राकृत ज्ञान की अन्धाधुन्ध प्रवृत्ति से आज कल जो घोर वैमनस्य, स्वार्थ, विषयलोलुपता, ईर्ष्या, द्वेषादि की वृद्धि होकर संसार की जातियां एक दूसरे की शत्रुता में बढ़ चढ़ कर चलने में अपना सौभाग्य समझती हैं, यह दुर्दशा दूर होकर, एक ईश्वर की यथार्थ भक्तप्रजा–परस्पर एक दूसरे को भ्रातृभाव से देखती हुई सर्वदुःखों से निवृत्त हो हुवा कर धर्म, अर्थ, काम के पश्चात् मोक्षको भी प्राप्त हो सकतीहै॥

मैं इस ईश्वरविषयक व्याख्यान के ४ विभाग करूंगा, १-ईश्वर का अस्तित्व, २-उस की प्राप्ति का उपाय और अप्राप्ति के कारण, ३-प्राप्ति का फल, ४-स्तुति, प्रार्थना और उपासना के फल ॥

१-ईश्वर का अस्तित्व

जिस प्रकार समस्त संसार के पञ्चतत्त्वात्मक स्थूल पदार्थों को पञ्च-ज्ञानेन्द्रियों से विषय (फ़ील-महसूस) किया जाता है और परमाणवादि सूक्ष्म पदार्थों को बुद्ध्यादि अन्तरिन्द्रियों से विषय किया जाता है, ठीक इसी प्रकार आत्मा से परमात्मा को विषय किया जाता है, परन्तु " विषय " शब्द इन्द्रियों के विषयों में रूढ़ होगया है, इस लिये परमात्मा को विषय करना, विषय शब्द से व्यवहार में नहीं आता, प्रत्युत परमात्मा के साथ विषय शब्द लगाना एक प्रकार की अयुक्त चेष्टा (गुस्ताख़ी) है। इस कारण परमात्मा के लिये विषय शब्द के स्थान में 'अनुभव' शब्द का प्रयोग करके काम चलाते हैं। आप पूछेंगे कि 'काम चलाते हैं' इस वाक्य में कुछ विशेष ध्वनि है ? तो बताइये। हां, इस में अवश्य ध्वनि है और वह ध्वनि यह है कि थोड़ा और गम्भीर विचार से देखा जावे तो यहां अनुभव शब्द भी अपने ठीक प्रसिद्ध अर्थ से ठौर नहीं पाता। क्योंकि-

"यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह"

यथार्थ में वह मन और वाणी से परे है। इस लिये ठीक २ किसी शब्द का भी व्यवहार उस में नहीं हो सकता,तथापि जैसे अन्य गुड़ आदि पदार्थों का स्वादु भी जिस रसना इन्द्रिय से ग्रहण किया जा सकता है, उस से अतिरिक्त अन्य इन्द्रियों का सामर्थ्य नहीं कि स्वादु को बता सकें। तथापि वाणी द्वारा अपने सामर्थ्य भर उद्योग किया जाता है कि गुड़ वा मिश्री का स्वादु इस प्रकार का है,यद्यपि गुड़ वा शहद के स्वादु से ठीक मिलता हुवा किसी भी अन्य मिष्ट पदार्थ का स्वादु नहीं। इस लिये किसी अन्य पदार्थ की उपमा आदि से भी उसे समझा नहीं सकते, क्योंकि प्रत्येक पदार्थ अपने तुल्य आप ही है। एक पदार्थ की दूसरे पदार्थ से सर्वांश में तुल्यता हो ही नहीं सकती। इसी प्रकार परमात्मा की किसी पदार्थ के साथ तुल्यता इस से भी अधिक असम्भव है,तथापि उसका अनुमानादि के द्वारा जैसे एक अनभिज्ञ पुरुष को शहद आदि के स्वादु की कुछ २ ज्ञान का कठिन से सङ्केत (इशारा) किया जाता है और तब भी वह रसना

इन्द्रिय से ही उसे ठीक विषय करता है, इसी प्रकार कठिनता से ईश्वर की ओर भी किन्हीं न किन्हीं शब्दों से संकेत किया जाता है और ऐसा करने से जिज्ञासु के हृदय में अब प्रबल उत्कण्ठा उत्पन्न कराई जाती है, तब वह, शनैः २ सांसारिक पदार्थों में वैराग्य उत्पन्न करके ईश्वर विषयक ध्यान का अभ्यास बढ़ाता हुवा चित्त को अत्यन्त तत्प्रवण (उस की ओर झुका) करके उसे अनुभव करता है । तब यह वाक्य ठीक चरितार्थ होता है कि—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो, न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा वृणुते तनूं स्वाम् ॥

अन्वयः-अयमात्मा, प्रवचनेन लभ्यो नास्ति, न मेधया, न बहुना श्रुतेन लभ्यः, किन्तु यमेव एषः वृणुते [स्वीकरोति कृपया],तेनैव लभ्यः, तस्य एषः आत्मा स्वां तनं [निजां तनूमिव) वृणुते [स्वीकरोति] ॥

यह आत्मा केवल प्रवचन (किसी के बताने) से नहीं जाना जाता, न केवल बुद्धि से,न बहुत पढ़ने से । किन्तु जो पुरुष अपने आत्मा से उस का श्रद्धा भक्ति से वरण=ग्रहण करता है उसे परमात्मा ऐसे स्वीकार करके जैसे जीवात्मा देह को, कृपया अपना स्वरूप प्रकट कर देते हैं । अर्थात् आत्मा को ही साक्षात् परमात्मा का अनुभव होता है, किसी मन वाणी इन्द्रियादि साधन से नहीं हो सकता और होना चाहिये भी नहीं, क्योंकि प्राकृत इन्द्रियां प्राकृत जगत् के विषय करने ही में काम दे सकती हैं । प्रकृति से परे सूक्ष्म चेतन परमात्मा के अनुभव करने में प्राकृत इन्द्रियां कैसे काम दे सकती हैं ? किन्तु अप्राकृत आत्मा ही परमात्मा का अनुभव कर सकता है । लोक में जब किसी सुनार की दूकान पर,वा अन्यत्र किसी वस्तु के पकड़ने के साधन चिमटा संडासी आदि पर दृष्टि डालो तो सदा यही नियम देखोगे कि स्थूल वस्तुओं के पकड़ने के साधन स्थूल और सूक्ष्म सुनहरे टुकड़े पकड़ने के साधन भी वैसे ही सूक्ष्म हुवा करते हैं । इन्द्रियों का स्वभाव है कि वे बाह्य विषयों को ग्रहण करें, परन्तु आत्मगत को नहीं । जैसे आंख दूरस्थ पदार्थ को देखती है, परन्तु आंख में पड़े तिनके को आंख नहीं देख सकती । इसी प्रकार गरमी सरदी को त्वचा विषय करती है परन्तु त्वचा में रमी हुई गरमी वा सरदी को त्वचा नहीं पह-

जानती। यही दशा अन्य इन्द्रियों की भी है। परमात्मा इन्द्रियों और मन तथा आत्मा में भी व्यापक है इस लिये इन्द्रियें और मन उसे ग्रहण नहीं कर सकते। यद्यपि किसी इन्द्रिय से भी उपलब्ध नहीं होता तथापि हमारा आत्मा उसे उपलब्ध कर सकता है। आप पूछेंगे कि क्या कभी परमात्मा के विषयमें हम को ऐसी प्रतीति होने लगती है जैसी कि घोड़े को देख कर " अश्वोस्ति " यह प्रतीति होती है? उत्तर यह है कि क्या कभी एक पदार्थ की प्रतीति दूसरे पदार्थ की प्रतीति के तुल्य किसी को हुई है? क्या "गौरस्ति" गौ है। इस प्रतीति के तुल्य ही "अश्वोस्ति" की प्रतीति किसी को होती है? यदि होती है तो मिथ्या प्रतीति है, क्योंकि " गौरस्ति " और " अश्वोस्ति " ये दो प्रतीतियां एक दूसरे के समान हों तो गौ को देख कर गौ की प्रतीति होने लगे और ऐसा होवे तो क्या यह विपरीत वा मिथ्याप्रतीति नहीं है? इसी प्रकार यदि "अश्वोस्ति" के तुल्य ही " ईश्वरोस्ति " की प्रतीति होवे तो यह भी मिथ्याप्रतीति ही होगी। परन्तु आप का तात्पर्य यह होगा कि जैसे " अश्वोस्ति " में अश्व के अस्तित्व में सन्देह नहीं रहता वैसे " परमेश्वरोस्ति " यहां भी ऐसी प्रतीति न हो जैसी " अश्वोस्ति " में है तथापि अस्तित्व सामान्य तो होगा? अर्थात् "है" यह प्रतीति तो ईश्वर में भी ठीक ऐसी ही निश्चय होने लगेगी जैसी घोड़े में " है " प्रतीति होती है? हां यह ठीक है; निस्सन्देह ईश्वर का अस्तित्व वैसे ही निस्सन्देह भान होगा जैसा अन्य पदार्थों का। परन्तु वह क्यों उस को भान नहीं होता? यह बात मैं आगे उस प्रकरण पर जहां " उस की प्राप्ति " का वर्णन होगा, कहूंगा। यहां केवल यह वर्णन करना है कि क्या केवल जड़ प्रकृति के अन्धाधुन्ध परिवर्त्तनों और चेष्टाओं का यह परिणाम वा फल हो सकता है? जो कि आप एक विधिपूर्वक वा नियमानुसार जगत् की अवस्था देखते हैं कदापि नहीं। अथवा प्रतिक्षण परिणामी जगत् को आप सदाकाल से एकरूप एकरस मान सकते हैं? जिस से स्रष्टा के मानने की आवश्यकता न रहे? नहीं। जब जगत् का नाम " जगत् " ही इस के अर्थ पर विचार करने से यह बतलाता है कि जगत् एकावस्था में स्थिर नहीं रह सकता, किन्तु " गच्छति इति जगत् " निरन्तर जाता है इस लिये " जगत् " कहाता है और जगत् का एक २ अवयव उत्पत्ति और नाश वाला देखा जाता है, तब यह समझना कैसा बड़ी भूल है कि अवयवी जगत् किसी ने नहीं रचा, यह सदा से ऐसा ही

चला आता है। प्रसिद्ध बात है कि एक प्राकृत द्रव्य में परस्परविरुद्ध दो धर्म नहीं रह सकते। प्रकृति जड़ है, उस में परस्परविरुद्ध दो धर्म नहीं रह सकते कि स्वयमेव जगत् के उत्पादन का धर्म भी रहे और उस के विरुद्ध संहार का धर्म भी रहे। यदि कोई यह शङ्का करे कि:—

सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः० (सांख्य सू०)

जब प्रकृति में सत्त्व रजः तमः इन तीनों गुणों का संचार रहता है और विकृति होने से अर्थात् प्रकृति के कार्योन्मुखी होने से रजोगुण-उत्पन्न करता है, सत्त्व गुण पालन करता है और तमोगुण संहार करता है, इस प्रकार उत्पत्ति स्थिति प्रलय तीनों कार्य प्रकृति के तीनों गुणों से सिद्ध हो जाते हैं तब उत्पत्ति स्थिति प्रलय के कर्त्ता ईश्वर की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर—यह ठीक है कि सत्त्व से पालन, रज से उत्पत्ति और तमः से प्रलय होता है। इस प्रकार प्रकृति के ३ गुणों से ही ३ काम हो जाते हैं परन्तु अपने आप नहीं। जिस प्रकार चिकनी मिट्टी में सामर्थ्य है कि उस से घटादि बने और बालू रेत में नहीं। परन्तु चिकनी मिट्टी क्या स्वयं घट बन सकती है ? कदापि नहीं। किन्तु जब कुम्भकार, जो चेतन है, वह उसे घटाकार बनाता है तभी वह घट बनती है, अन्यथा नहीं। यदि कहो कि जब बनाये बिना सृष्टि नहीं बनती तो रजोगुण का सामर्थ्य बना सकना मानना व्यर्थ है वा प्रलय किये बिना कारण में लय नहीं होती तो तमोगुण की लयशक्ति मानना व्यर्थ है ? तो उत्तर यह है कि जिस प्रकार यदि मिट्टी चिकनी न हो अर्थात् उस में जुड़कर घड़ा बनने का सामर्थ्य न हो तो घड़ा बन नहीं सकेगा, किन्तु मिट्टी में स्वाभाविक बनने का सामर्थ्य रहते हुवे ही उस से कुम्भकार घड़ा बना सकता है, अन्यथा नहीं। इसी प्रकार प्रकृति के गुणों के रहते हुवे ही परमात्मा उत्पत्ति आदि व्यवहारों को करते हैं अन्यथा तीनों गुणों से रहित गुणातीत परमात्मा में प्रकृतिसम्बन्ध न होने पर सृष्टि आदि को व्यवहार नहीं बन सकता। यदि सृष्टि के परमाणुओं में सृष्टि के बनाये रखने और बनाने की शक्ति स्वाभाविक मानें तो सृष्टि के किसी एकदेश का नाश भी न होना चाहिये, परन्तु ऐसा देखने में नहीं आता। इस संसार में मनुष्य पशु पक्षी कीट पतङ्ग वृक्ष पर्वतादि सभी छोटे से छोटे और मध्यम पदार्थों का नाश

(प्रलय) देखते हैं और इस से ठीक निश्चित होता है कि बड़े से बड़े पृथिवी और सूर्यादि पदार्थों का भी प्रतिदिन ह्रास होते २ एक नियत समय पर क्षय हो जावेगा। इस समय के वैज्ञानिकों का भी यह निश्चय है कि पृथिवी और सूर्यादि सब लोकों का उत्पत्ति के समय उष्ण पिण्ड था, परन्तु केन्द्रबिन्दु से चारों ओर को गरमी निकलते २ चन्द्रमा छोटा होने से प्रथम ठण्डा हुआ उस के पश्चात् पृथिवी ठण्डी हुई जो चन्द्रमा से बड़ी और सूर्य से छोटी है। इसी प्रकार सूर्य की उष्णता घटती जाती है और उसी प्रकार पृथिवी पर से समुद्र घटता जाता है, परन्तु इन सब न्यूनताओं को इस कारण जानना कठिन है कि बड़े २ पदार्थों के भागकी थोड़ी न्यूनता जानने के लिये सब किसी के पास साधन नहीं। किन्तु वैज्ञानिकलोग विज्ञानशास्त्र और विद्यासम्पादित अपूर्व २ साधनों से इस भेद को जान गये हैं कि यथार्थ में सांसारिक छोटे से छोटे पिपीलिकादि और बड़े से से बड़े सूर्यादि सब पदार्थ नाशोन्मुख दौड़े जाते हैं। परन्तु कुछ लोग ऐसा समझते हैं कि सब पृथिवी का नाश कभी न होगा किन्तु इस का कोई भाग कभी नष्ट होता और दूसरा कभी। इसी प्रकार एक भाग कभी नवीन बनता रहता है और दूसरा कभी। इस प्रकार सदा ही उत्पत्ति स्थिति प्रलय होता रहता है किन्तु कभी समस्त पृथिवी का युगपत् (एकवार ही) प्रलय नहीं होता और ऐसे ही न कभी उत्पत्ति युगपत् होती है। परन्तु विचार के सामने ऐसी समझ बेसमझी सिद्ध होती है। क्योंकि जो बात व्यष्टि जगत् में है वही समष्टि में है। अर्थात् जगत् के छोटे २ पदार्थों में जैसे उपचय अपचय होते हैं (किसी जीव वा वस्तु के देह का बाहरी परमाणु जुड़ २ कर बढ़ते जाना उपचय और घटते जाना अपचय कहाता है) वैसे ही पर्वतादि बड़े २ अवयवों का भी और तदनुसार अवयवी सम्पूर्ण जगत् का भी उपचय अपचय होते २ उत्पत्ति और नाश स्वीकार करना होगा। यदि सब नाश कभी न मानें तो मनुष्य पशु आदि के देह भी एक ओर से उत्पन्न उपचित होते रहें और किसी दूसरी ओर से नष्ट अपचित होते रहें और ऐसा हो तो कोई मनुष्य पशु आदि कभी न मरे। परन्तु यह नहीं देखा जाता। इसलिये महाशयो! यह समझना बेसमझी है कि जगत् के एकदेश का ही नाश होता है और सर्व देश का नहीं। किन्तु ठीक यही है कि जैसे जगत् के एकदेश मनुष्यादि के देहों का उपचय होते २ उत्पत्ति और

अपराध होते २ नाश होजाता है इसी प्रकार इस और जगतके भी उत्पत्ति और प्रलय हैं तथा अन्य और जगतों के भी ॥

एक और हेतु परमात्मा के अस्तित्व में है। और वह यह है कि कोई जीव जो बुरे भले कर्म करता है वह उन में से भले कर्मों का तो भोग चाहता है, इसलिये उसे प्राप्त होजाते हैं, परन्तु बुरे कर्मों का बुरा फल कोई जीव भोगना नहीं चाहता, तथापि बुरा फल जीव भोगते हैं और निस्संदेह वे बिना चाहे दुःख को बलात भोगते हैं। भला फिर ईश्वर के बिना और कौन है जो बिना चाहे दुःख को बलात् भोगवाता है? यदि कहो कि अन्य जीव भोगवाते हैं, तो हम पूछते हैं कि संसार में ऐसे बहुत से दुःख हैं जो अन्य प्राणियों की ओर से नहीं दिये जाते। जैसे वज्रपात, शीत, धूप, ज्वरादि पीड़ा इत्यादि। भला ये दुःख किस प्राणी की ओर से होते हैं? किसी की नहीं। यदि सब मिथ्या आहार विहार का फल है तो हम पूछते हैं कि सब मनुष्य आहार विहार बुरा चाहते नहीं। और इसी प्रयत्न में लगे रहते हैं कि हम अमुक २ अपराध करें परन्तु उसका अनिष्ट फल न भोगना पड़े और प्रायः ऐसे प्रयत्न करके कृतकार्य भी हो जाते हैं। प्रायः चोर, दण्ड से बच जाते हैं, व्यभिचारी रोग से बचजाते हैं, और उन को देख कर अन्यों को भी साहस हो जाता है और इसी प्रकार संसार में दुष्कर्मों का प्रवाह चल पड़ता है। परन्तु तौ भी कभी कभी दृष्ट और अदृष्ट रीतियों से ऐसी भयावनी दैवी घटना होती है जिन का प्रतीकार मनुष्य कुछ भी नहीं कर सकता। वर्त्तमान संवत् में देखिये कि अकाल, महामारी आदि महाभयानक विपत्तियों का देने वाला कोई भी प्राणी नहीं है, तो अपकर्मों के प्रभाव से आया हुवा ईश्वर का कोप ही इस का कारण स्पष्ट है। आसाम देश में जो कभी भयानक भूकम्प से असंख्य मनुष्यादि प्राणियों को दुःख भोगना पड़ा, वह किसी प्राणीका दिया दुःख नहीं है। ऐसे भयानक दुःखों को देख कर नास्तिक से नास्तिक मनुष्य भी एक वार कह उठता है कि "दयानिधे! रक्षा करो"। इस प्रकार प्राणिवर्ग जब घोर पाप का अनुष्ठान करने लगते हैं तब दुष्टसंहारक परमात्मा उन के संहारार्थ दैवी आपत्ति डाल कर शिक्षा देते हैं और "मनुष्य अपने किये कर्मों का फल आप पा जाता है" ऐसा कहने वाले मतों को साक्षात उपदेश करते हैं। इसके अतिरिक्त प्राणिवर्ग जो गर्भमें भी भोजन पाते हैं और शरीर बढ़ाते हैं सो सब स्वयमुपार्जित कर्मों का स्वयं होने वाला फल कैसे कहा जा सकता है? परमात्मा वेदमें बताते हैं कि:-

" अहं ददामि गर्भेषु भोजनम् "

अर्थ—" मैं गर्भों में भोजन देता हूं " अहो! कैसे आश्चर्य का विषय है कि मनुष्य उस परम कृपालु परमात्मा की अपार कृपा और शालीन न्याय परायणता को देखता हुआ भी यह प्रश्न उठाता है। कि परमात्मा के अस्तित्व को कैसे स्वीकार करें ! !

जब कि बड़े २ राजा, प्रिंस, बादशाह, इस संसार को छोड़ते हैं तब विवश हो जाते हैं तो यह कहना कैसी भूल है कि आत्मा स्वयं कर्मफल को भोग लेता है ॥

यद्यपि ईश्वर के अस्तित्व में इतने अधिक प्रमाण हैं जिन की बहुतायत ही इस बात का कारण है कि मनुष्य इस विषय में प्रमाण ही प्रायः कम पाता है। जब मनुष्य को भूख इतनी अधिक लगती है कि जिस से अधिक भूख असम्भव हो। अथवा जब मनुष्य को इतना दुःख आ पड़े जिस से अधिक दुःख असम्भव हो। अथवा जब हर्ष इतना अधिक हो जिस से अधिक हर्ष असम्भव है। तो मनुष्य उस भूख, दुःख और हर्ष का जानने और मापने को असमर्थ हो जाता है। भला जब अन्त वाले सुख, दुःख, हर्ष, क्षुधा आदि भी पराकाष्ठा की बहुतायत से सामने आते हैं, तब पहचाने नहीं पड़ते तो फिर वे अनन्त प्रमाण जो परमात्मा को प्रमेय करते हैं उन की प्रमाणता में क्षुद्रबुद्धि मनुष्याधम को सन्देह होना क्या आश्चर्य है तथापि हमने जो संक्षेप से उपनिषदों के सारभूत इस संक्षिप्त परन्तु गम्भीर बुद्धि से विचारणीय थोड़े से वर्णन को आप के सन्मुख धरा है, इस से भी ईश्वर के अस्तित्व में, मैं समझता हूं कि बहुत कुछ शिक्षा मिलेगी। उस के अस्तित्व में जो प्रमाण नहीं विदित होता इस का कारण जो ऊपर प्रमाणों की बहुतायत को बताया है, उस को आप एक सामान्य हेतु समझते होंगे। परन्तु दीर्घ दृष्टि से देखें तो यह एक प्रबल हेतु है। देखिये हमारी आंख जिस दूरस्थ पदार्थ को देखती है, यदि वह पदार्थ आंख जिस दूरस्थ पदार्थ को देखती है, यदि वह पदार्थ आंख के इतना अधिक समीप हो जावे कि आंख में ही आपड़े तो फिर आंख का सामर्थ्य नहीं रहता कि उसे देख सके। अथवा जब कोई वस्तु इतनी अधिक औरों से दीखे कि ऐसी जगह हो न हो जहां वह न प्रतीत हो तो उस को व्यवहार में दीखना वा देखना नहीं कहा करते। जैसे किसी न्यायाधीश के सामने इतने अधिक प्रमाण अपने वाद वा प्रति-

बाद में कोई उपस्थित करदे जिन की गणना करना और अनुक्रम से रखना भी न्यायाधीश न जानता हो तो घबराकर वह उन सब प्रमाणों की उपेक्षा करने लगता है। इसी प्रकार परमात्मा के अस्तित्व में जो प्रमाणभूत प्रत्येक प्राणी, अप्राणी, जगत् भर के पत्र पुष्प फल जलचर स्थलचर नभचर आदि पदार्थ हैं, जिन में से एक २ में उस की अनन्त अनोखी अचिन्त्य कारीगरी सूचित होती है और वह कारीगरी अनन्त होने से अचिन्त्य अर्थात् समझ से बाहर है। वह संख्या में इतनी अधिक हैं कि मनुष्य उन सबों पर दृष्टि नहीं पसार सक्ता और घबड़ा जाता है और विक्षिप्त के सदृश कहता है कि "ईश्वर के अस्तित्व में क्या प्रमाण है ?" इत्यादि ॥

अब इस विषय में अधिक लेख बढ़ाना इस कारण भी निष्प्रयोजन वा अल्पप्रयोजन है कि आगे "उस की प्राप्ति का उपाय" नामक दूसरे भाग में और "अप्राप्ति के कारण" इस तीसरे भाग में जो प्रसङ्गवश, हेतु देने होंगे, वे भी एक प्रकार से उस के अस्तित्व में प्रमाणभूत ही होंगे। इसलिये इस विषय में अधिक न कह कर आगे दूसरे भाग का प्रारम्भ किया जाता है॥

२—उस की प्राप्ति का उपाय

परमात्मा की सत्ता एक ऐसी महती सत्ता है जो सर्वत्र उपस्थित है; जिस के बिना एक परमाणु भी नहीं है। तथापि उस की प्राप्ति बिना उपाय किये नहीं हो सकती। कारण यह है कि वह ऐसा सूक्ष्म है जो अपनी सूक्ष्मता के कारण सामान्य पुरुषों को प्राप्त नहीं होता अर्थात् सामान्य पुरुष उस को प्रतीत नहीं कर सकते। यद्यपि वह सामान्य पुरुषों और विशेष पुरुषों में एक से ही भाव से वर्तमान है तथापि वह विशेष पुरुष जिन्हों ने उस के प्राप्त करने के उपाय किये हैं उसे प्राप्त कर सकते हैं और जिन्हों ने उपाय नहीं किये वे उसे नहीं प्राप्त कर सकते। इस लिये उपाय जानने की आवश्यकता है॥

पहिला उपाय—चाह

सब से पहिले उस के प्राप्त करने की चाह (प्रबल इच्छा) उत्पन्न करने की आवश्यकता है। क्योंकि जब तक संसार में किसी वस्तु की प्राप्ति की प्रबल उत्कण्ठा उत्पन्न नहीं होती तब तक किसी प्राप्त की प्राप्ति के लिये पूर्ण पुरुषार्थ भी करते नहीं देखा जाता है। जिन २ पदार्थों की प्राप्ति के लिये लोग प्राणान्त परिश्रम उठाते हैं अवश्य उन की प्राप्ति के लिये

उन के हृदय में एक प्रबल उत्कण्ठा की ज्वाला धधकती है। ऐसा न होता तो धन की प्राप्ति के लिये भी मनुष्य के हृदय में एक प्रबल ज्वाला न धधकती, और यह न धधकती तो मनुष्य ऐसे २ कठिन कार्य इस धनप्राप्ति के अभिलाष में कभी न करता जैसे कि एक कवि ने गिनाये हैं ॥ यथा—

नृत्यन्ति गायन्ति रुदन्ति चैव । रोहन्ति वंशं च गुणे चलन्ति ॥ तप्तायसः पिण्डमहो लिहन्ति । सर्वं कुकर्माचरितं चरन्ति ॥ १ ॥ पतिव्रतं सत्कुलजा जहाति । स्वब्रह्मचर्यं च पुमान्कुलीनः ॥ यस्य प्रभाप्रेक्षणमात्रलेशात् । द्रव्यं सदा तच्छरणं ममास्तु ॥ २ ॥ वृत्तान्तपत्राणि परःशतानि । सुप्राञ्जलैर्लेखशतैर्युतानि ॥ स्वग्राहकान्यानि सदार्थयन्ति । धनानि तान्यत्र न के भजन्ति ॥ ३ ॥ गतापराधानपि दण्डयन्ति । कृतापराधानपि च त्यजन्ति ॥ यद्भ्रान्तचित्ताः किल राजकीयाः । वित्ताय तस्मै प्रणतिर्मदीया ॥ ४ ॥ उपानत्प्रहारैरहो ताडिताग्राः । सुनिर्भर्त्सिताः कारगेहे निबद्धाः ॥ यदर्थं व्यथास्तस्कराः संसहन्ते । धनायास्तु तस्मै नमस्ते नमस्ते ॥ ५ ॥

अर्थात् जिस धन के लिये लोग नाचते हैं (जो निर्लज्जता का काम है) गाते हैं, रोते हैं, बांस पर चढ़ते हैं, रस्सी पर चलते हैं, (जहां से गिरें तो पता न लगे) तपाये हुवे लोहे के गोलों को चाटते हैं, सब प्रकार के कुकर्म तक करते हैं ॥१॥ कुलीनस्त्रियां अपना धर्म भ्रष्ट करती हैं, कुलीन लड़के अपना ब्रह्मचर्य खो बैठते हैं, केवल इस लिये कि धन रूपी सूर्य की कहीं किरणें दीख पड़ें। धन्य रे द्रव्य ! ॥ २ ॥ जिस के लिये सैंकड़ों प्रशंसापत्र हाथ जोड़े अपने ग्राहकों को अर्पण किये जाते हैं भला ऐसे धन की सेवा कौन न करे ? ॥ ३ ॥ जिस से भ्रान्तचित्त होकर राजपुरुष निरपराधों को दण्ड देते और अपराधियों को छोड़ देते हैं। उस धन को हमारा नमस्कार है ॥ ४ ॥ जिस धन के लिये चोर लोग जूते खाते हैं, घुड़कियें खाते हैं, कारागार (जेल) में जाते हैं इसी प्रकार अन्य अनेक यातनाओं को भुगतते हैं, उस धन को नमस्ते नमस्ते ॥ ५ ॥

जिस प्रकार धन की प्राप्ति का लोलुप होकर मनुष्य अनेक प्रकार के दुःखों को झेलता है, परन्तु उस ओर से एक पद भी पीछे नहीं हटता। इसी प्रकार स्त्री आदि की प्राप्ति के लिये भी इस से बढ़ कर विपत्तियों का सामना करता है तथापि पीछे नहीं हटता। तब बतलाईये कि वह क्या वस्तु है, जो इस प्रकार मनुष्य को एक विषय की प्राप्ति की उत्कण्ठा में तत्पर बना देती है? महाशयो! वह उस की गहन प्रीति का अत्यन्त प्रेम है। एक कवि प्रेम की महिमा का इस प्रकार वर्णन करता है:—

बन्धनानि खलु सन्ति बहूनि, प्रेमरज्जुकृतबन्धनमन्यत्।
दारुभेदनिपुणोऽपि षडङ्घ्रिः, पङ्कजे भवति कोशनिबद्धः ॥१॥

अर्थात् बन्धन तो बहुत से हैं परन्तु प्रेम की रस्सी का बन्धन और ही है। दृष्टान्त—जो भ्रमर बांस की गांठ जैसे कठोर पदार्थ को काट डालता है वही प्रेमवश कमल के कोमल कोष में बन्ध जाता है, काट कर नहीं भागता ॥ १ ॥

जिस प्रकार यह भ्रमर कठोर से कठोर वस्तुओं का काटने वाला हो कर भी कमल कोष में चुपका बन्धा पड़ा रहता है, इसी प्रकार अत्यन्त चञ्चल मन भी जो जागते तो जागते, सोते हुये भी भागा २ फिरता है वह भी जब प्रेम की रस्सी से बन्धता है तब चञ्चलता का नाम भी भूल जाता है। इस प्रेम को जब कि यह छोटे का बड़े पर होता है "भक्ति" कहते हैं। इस भक्ति के बिना परमात्मा की प्राप्ति दुर्लभ है। इस लिये सब से प्रथम उस में भक्ति (चित्त की तन्मयता) करनी चाहिये, यह भक्ति वा चाह प्रबलता से कैसे उत्पन्न हो? उस का उपाय "स्तुति" है ॥

" स्तुति "

परमात्मा के दिव्य अलौकिक गुण जिस प्रकार वेदादि सच्छास्त्रों में लिखे हैं उन का वार २ पाठ करना और अर्थ पर ध्यान लगाये रहना "स्तुति" कहाता है। जैसा कि यजुः २५। १३ ॥

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः।
यस्य च्छायाऽमृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

(यः) जो (आत्मदाः) आपे का दाता है (बलदाः) बल का दाता है (यस्य) जिस के (प्रशिषम्) शासन को (मनुष्य) (उपासते) मानते हैं

(यस्य) जिस की (छाया) आश्रय रूप भक्ति करना (अमृतम्) मोक्ष का हेतु है (यस्य) जिस का [भूलना] (मृत्युः) मृत्युकारक है। उस (कस्मै) प्रजापति (देवाय) देवता के लिये (हविषा विधेम) भक्ति करें॥

इत्यादि प्रकार से वेद और तदनुकूल अन्य शास्त्रों में उस की महिमा जिस प्रकार वर्णन की गई है उस को बार बार चिन्तन करना मुख से कहना, प्रसन्न होते जाना, उस के ऊपर कोई नहीं है, वही सर्वोपरि है, इस कारण अन्य तुच्छ वस्तुओं की प्रीति छोड़ कर उसी एक में प्रीति लगाना "भक्ति" है। परन्तु अन्य सांसारिक पदार्थों से प्रीति कैसे हटे, जब तक कि उन की तुच्छता और असारता न समझी जावे। जब तक मनुष्य अन्य सांसारिक पदार्थों की असारता तुच्छता और क्षणभङ्गुरता को नहीं जानता, तब तक उन्हीं में लिप्त रहता है और जब तक उन्हीं में लिप्त रहता है तब तक परमात्मा के शरण में आने की सुध कैसे आवे? इस लिये यह आवश्यक है कि सांसारिक पदार्थों की असारता के जानने का उपाय करे, जिस से उन से वैराग्य (अप्रीति) हो। जितना संसार के पदार्थों से वैराग्य होगा उतना ही इस जीवात्मा को परमात्मा की स्तुति भक्ति आदि के लिये अवकाश मिलेगा। सांसारिक पदार्थ मनुष्य को शान्ति नहीं कर सकते। यह बात सांख्य शास्त्र के १ अध्याय के २ सूत्र से अच्छे प्रकार समझ में आजावेगी। यथा—

न दृष्टात्तत्सिद्धिर्निवृत्तेरप्यनुवृत्तिदर्शनात्।

मनुष्य के आध्यात्मिकादि तीन प्रकार के दुःखों की निवृत्तिरूप सिद्धि सांसारिक दृष्ट पदार्थों से नहीं हो सकती, क्योंकि उन से दुःख निवृत्ति होते ही तत्काल पुनः दुःख की अनुवृत्ति देखते हैं। कल्पना कीजिये कि एक मनुष्य को क्षुधारूप दुःख है, उस की निवृत्ति के लिये वह दो पहर के १२ बजे ८ छटांक भोजन करता है और सायङ्काल के ८ बजे दूसरी बार क्षुधा लगती है। उस की निवृत्ति के लिये फिर ८ छटांक भोजन करता है। ऐसा ही नित्य किया करता है। अब विचारना चाहिये कि क्या उस की क्षुधा १२ बजे से ८ बजे तक ८ घंटे के लिये निवृत्त हो जाती है? कदापि नहीं। क्या उस को सायंकाल के ७ बज कर ५९ मिनट तक क्षुधा न थी? अवश्य थी। अच्छा क्या ६ बजे क्षुधा न थी? अवश्य थी। क्या इस से पूर्व न थी? नहीं २ कुछ न कुछ अवश्य थी, किन्तु

वह ८ छटांक की क्षुधा जो सायंकाल ८ बजे पूरी तृप्त हुई है, वह ४ बजे भी चार छटांक की क्षुधा अवश्य थी और १ बजे दोपहर को भी एक छटांक की क्षुधा अवश्य थी। वह क्रमशः एक १ घंटे में एक १ छटांक बढ़ती आई और बढ़ते २ ठीक ८ बजे पुनः पूर्ववत् पूरी ८ छटांक लगने लगी। इतना ही नहीं, किन्तु वह १ घण्टे के ६०वें भाग एक मिनट में १ छटांक का ६०वां भाग क्षुधा भी अवश्य थी। मानो जिस समय तृप्त होकर दोपहर को उठे थे उसी समय से वह पिशाची क्षुधा साथ फिरती और बढ़ती जाती थी। इसी प्रकार अन्य किसी दृष्ट पदार्थ से दुःख की सर्वथा निवृत्ति नहीं होती, क्योंकि सांसारिक समस्त साधन जिन से हम दुःख की निवृत्ति और स्थिर सुख की प्राप्ति की इच्छा करते हैं और इसी प्रयोजन से अनेक प्रकार के कष्ट सह कर भी उन के उपार्जन की चेष्टा करते हैं, वे सब स्वयं ही स्थिर नहीं, किन्तु प्रतिक्षण नाशोन्मुख दौड़े जाते हैं। तब हमें क्या सुख दे सकते हैं? इस प्रकार विचारा जावे तो बहुत शीघ्र में दृष्ट सांसारिक पदार्थों की असारता समझ में आजाती है, तब फिर इन में ऐसा राग करना जैसा कि सर्वसाधारण करते हैं, उचित नहीं है। जब यह समझ में आजाता है तभी मन से वैराग्य उत्पन्न होता है। यह वैराग्य भी ईश्वरप्राप्ति के उपायों में एक उपाय है, वैराग्य के बिना सांसारिक पदार्थों में ही मन दौड़ता रहता है, स्थिर नहीं होता। मन की स्थिरता के बिना परमात्मा की प्राप्ति कहां? मन की स्थिरता वैराग्य और अभ्यास से होती है। यथा—

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः। योग० १।१२

बार २ अभ्यास और इतर पदार्थों से वैराग्य (अप्रीति) का अधिकतर होने से मन एकाग्र होता है। अन्यथा मन बड़ा चञ्चल है, इस के भीतर अनेक सुसङ्कल्प कुसङ्कल्प उठा करते हैं। मन को रोकने वाले को प्रथम परमात्मा से यह भी प्रार्थना करनी चाहिये कि मेरे मन में हे भगवन्! बुरे सङ्कल्प न उठें, शुभ सङ्कल्प उठें। जैसा कि वेद में प्रार्थना का उपदेश है—

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति।
दूरंगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥
यजुः ३४। १॥

हे भगवन्! (तत्, मे, मनः) वह, मेरा, मन (शिव सङ्कल्पम्, अस्तु)

शुभसङ्कल्प वाला, हो (यत्, जाग्रतः, दूरम्, उदैति) जो जैसे, जागते का, दूर जाता है, (तत्, सुप्तस्य, उ, तथा, एव, एति,) वह, सोते का, भी, वैसे, ही, जाता है (दैवम्) दिव्य है (एकं, ज्योतिषां ज्योतिः) एक ज्योतियों की, ज्योति है ॥

तात्पर्य यह है कि मन जिस प्रकार जाग्रत् समय में विषयों में दौड़ा २ फिरता है, उसी प्रकार स्वप्न (निन्द्रा) में भी, जब कि हाथ नहीं चलते, पैर नहीं चलते, कान नहीं सुनते नाक नहीं सूंघती, आंखें नहीं देखतीं, त्वचा नहीं छूती और समस्त बाहर के व्यापार बन्द होते हैं। तब भी मन दौड़ने में वैसा ही फुरतीला रहता है जैसा कि जागते समय में जब मनुष्य अपनी शक्ति भर उस के रोकने में श्रम करता है और नहीं रुकता तो कम से कम इसकी गति को बुराई से रोक कर भलाई की ओर को ही फेरना चाहिये। जब भलाइयों में इस को बहुत दिनों तक दौड़ने देवे तो उन भलाइयों के बदले परमात्मा प्रसन्न होकर इस असमर्थ जीवात्मा को मन के रोकने का सामर्थ्य देते हैं और जब यह कृपा होती है, तब मानो कार्यसिद्धि में देर नहीं रहती। इस प्रकार मन को रोकने से पहिले शुभकर्मानुष्ठान के लिये छोड़ देना चाहिये। जिस से कि ईश्वरकृपा से इस के रोकने का सामर्थ्य प्राप्त हो। कदाचित् आप यह पूछेंगे कि—जब कि परमात्मा 'वाङ्मनोऽतीत' अर्थात् वाणी और मन का विषय नहीं है मन उस को नहीं पहचान सकता, क्योंकि वह प्राकृत स्थूल है, इसलिये परमात्मा का नहीं ग्रहण कर सकता। इसलिये मन उस की प्राप्ति का साधन ही नहीं तो फिर उस की प्राप्ति के उपायों में मन के रोकने की क्या आवश्यकता है?

इस का उत्तर यह है कि यद्यपि मन साक्षात् परमात्मा के ज्ञान का साधन नहीं तथापि हमारा ज्ञान जो मन की प्रेरी हुई इन्द्रियों के द्वारा क्षीण होता रहता है वह क्षीण होना बन्द हो जावे और क्रमशः बढ़ता जावे, जिस से हम उस महान् वस्तु, मन की गति से दूर, परन्तु आत्मा में ही स्थित परमात्मा को प्राप्त कर सकें जिस प्रकार एक नहर से खेतों में पानी देते हैं परन्तु जो खेत पानी के बहाव से ऊंचे हैं उन में पानी नहीं पहुंचता क्योंकि वह आगे को बहा जाता है। परन्तु यदि उस पानी का आगे के बहाव का मार्ग रोका जावे जैसा कि खिड़ीपर डालकर नहर वाले पानी को ऊंचा करते हैं तो उन ऊंचे खेतों में भी पानी की गति हो जाती है जिन में कि

हद से प्रथम नहीं जा सकता था । ठीक इसी प्रकार मानवात्मा का परि-
मित ज्ञान और वह भी इन्द्रियों के छिद्रों के द्वारा प्रतिक्षण नहर (कुल्या)
के पानी के समान बहता है तो भला फिर उस अपरिमित और अत्यन्त
सूक्ष्म परमात्मा तक कैसे पहुंचे ? मनुष्य का ज्ञान यथार्थ में इन्द्रिय छिद्रों
द्वारा बहता है अर्थात् विषयों में खर्च होता है, इस कारण उस में और
भी न्यूनता हो जाती है । आप जानते हैं कि मनुष्य को देखने का काम
बहुत पड़े तो दर्शनशक्ति घट जाती है । चलने से पांव थकते हैं । सुनने से
कान थकते हैं । इसी प्रकार विचारने से बुद्धि थकती है । स्मरण करने को
बहुत बातें हों तो स्मृति थकती है । जिन लोगों का लेन देन थोड़ा है वे
उसे स्मरण रख सकते हैं, परन्तु जिनका व्यापार बहुत है वे स्मरणार्थ रजि-
स्टर या बही और फिर भिन्न २ खाते का काग़ज़ लिखते हैं और तिस पर भी
प्रायः भूलते हैं । कारण यही है कि ज्ञेय विषय के बढ़ जाने से ज्ञान उस
में थोड़ा २ बट जाता है । जब कि सांसारिक पदार्थों के जानने में भी स्मृति
के बट जाने से कठिनाई होती है तो परमात्मा, जो सब से सूक्ष्मतम है,
उस के जानने में जितनी कठिनाई पड़े वो सब सत्य है । इस लिये परमात्मा
की प्राप्ति के अभिलाषी पुरुष को इन्द्रिय व्यापार से हटाकर ज्ञान को नहर
के पानी के समान रोककर उच्च बनाना चाहिये । इस लिये मन की स्थिरता
आत्मज्ञान का उपाय है ॥

ऊपर लिखे शम दम अर्थात् मन और इन्द्रियों को वश करने के अति-
रिक्त और भी एक उपाय की आवश्यकता है, उसे "तितिक्षा" कहते हैं ।
प्रायः जीवन में छोटे २ और बड़े २ शोक मोह क्रोध क्षुधा पिपासा शीत
उष्ण आदि द्वन्द्व, मन के क्षोभ का कारण होते हैं । इस लिये इस आत्म-
विद्यालय के विद्यार्थी को उचित है कि शनैः शनैः सब द्वन्द्वों के सहन करने
का अभ्यास डाले । अभ्यास वही वस्तु है जिस से कठिन कार्य सुगम बन
जाते हैं, प्रत्युत दुःखदायक कार्य सुखदायक बन जाते हैं । आरम्भ में अ-
क्षराभ्यास करने वाले बालकों को एक २ अक्षर 'अ' बनाना कितना कठिन
होता है फिर अभ्यास उस को कितना सुगम कर देता है । यह बात किसी
शीघ्र लेखक के समीप खड़े होकर स्वयं प्रतीत हो जावेगी । चलना कैसा
दुःखदायक है परन्तु जिन को चलने का अभ्यास हो जाता है उन्हें बिना
चले रोटी ही नहीं भावती । इसी प्रकार सारा संसार अभ्यास की महिमा

का उदाहरण है। इस लिये परमात्मा की प्राप्ति के अभिलाषी को शीतोष्ण सुख दुःख की सहनशीलता का अभ्यास करना चाहिये ॥

अब हम उन उपायों का वर्णन यहां पूरा २ नहीं करते क्योंकि योग दर्शन में उनका पूरा वर्णन है, जो आठ अङ्ग योग के कहलाते हैं । इस यहां छोटे से व्याख्यान में केवल उनके नाम गिनाये देते हैं जिस से योग दर्शन में आप लोग ढूंढ सकें । उन आठों अंङ्गो के नाम ये हैं:—

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि ॥ २ । २९ ॥

१-यम । २- नियम । ३- आसन । ४-प्राणायाम । ५-प्रत्याहार । ६-धारणा । ७-ध्यान और ८-समाधि अङ्ग हैं ॥

१-यम-तत्राऽहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्याऽपरिग्रहा यमाः ॥ योगसूत्र २ । ३० ॥

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह ये ५ यम हैं ॥

नियम-शौचसन्तोषतपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ॥ २ । ३२ ॥

शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान ये ५ नियम हैं ॥

३-आसन-स्थिरसुखमासनम् १ । २ । ४६ ॥

स्थिरसुख, पद्मासन, वीरासन, भद्रासन, स्वस्तिकासन, दण्डासन, सोपाश्रयासनादि बहुत प्रकार के हैं ॥

४-प्राणायाम-तस्मिन्सतिश्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः १ । २ । ४९ ॥

आसन ठीक होनेपर श्वासप्रश्वास की गति रोकना प्राणायाम कहाताहै।

५-प्रत्याहार-स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकारइवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ॥ १ । २ । ५४

अपने विषय में न लगने से चित्त का स्वरूप में स्थिर होना, इसी प्रकार इन्द्रियों का भी प्रत्याहार है ॥

६-धारणा-देशबन्धश्चित्तस्यधारणा १ । ३ । १ ॥

चित्त का किसी एक देश में ठहराव-धारणा है ॥

७—ध्यान-तत्रप्रत्ययैकतानता ध्यानम् ३ । २ ।

उस प्रत्यय (प्रतीति) का एकरस रहना ध्यान है ॥

८—समाधि-तदेवार्थमात्र निर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ॥ ३ । ३ ॥

वही [ध्यान] जब ऐसा होजाय कि अपने आपको भूलाता, केवल परमात्मा ही के स्वरूप में मग्न होना समाधि कहाता है ॥

अब आप विचार कर सकते हैं कि जिस परमात्मा की प्राप्त्यर्थ हम को अहिंसादि ५ यम, शौचादि ५ नियम और आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि जैसे कठिन कार्यों की आवश्यकता है उस की प्राप्ति का उपाय किसी मूर्त्तिविशेष को मानना या कबूतरी कैसे आसनों को ही अंगीकार करके अपने को ब्रह्मज्ञानी और योगपारङ्गत समझना कैसी बड़ी भूल है ? ॥

अब हम उपाय वर्णन को छोड़ते हैं क्योंकि करने वालों को तो इन उपायों में से केवल एक काभी उद्योग करलो बहुत है और न करने वालों को इससे सहस्र गुण लिखने पर भी कोई लाभ नहीं । इस लिये उस की अप्राप्ति के कारणों पर आते हैं ॥

अप्राप्ति के कारण

ईश्वर की अप्राप्ति के कारण, यद्यपि यही हैं जो कि प्राप्ति के उपायों का न करना । तथापि संक्षेप से उन के वर्णन करने से समझने में सुगमता मिलेगी ॥

१-हमको ऐसा अभ्यास नहीं जो केवल अपने आत्मा से किसी पदार्थ का अनुभव करें । अभ्यास न होने का कारण यह है कि हम सब विषयों का ग्रहण इन्द्रियों ही से करते रहते हैं, परन्तु जिसप्रकार इन्द्रियों के सामने न आये हुये विषयों का कुछ नहीं तो मन से ही हम पीसना पीसने लगते हैं, इस प्रकार इन्द्रियों से विषय न किये जा सकने योग्य परमात्मा के लिये हम मन में भी जगह नहीं देते, किन्तु बाहर ढूंढते फिरते हैं और जैसे जब कोई विषय इन्द्रियों को नहीं प्राप्त होता तो मन से प्राप्त करने लगते हैं और मेघदूतके (स्वप्नेषु क्षणिकसमागमोत्सवैश्च) श्लोक के अनुसार

स्वप्न में ही मन के लड्डू कुछ मीठे बनाते हैं, इसी प्रकार जब परमात्मा मन से प्राप्त नहीं होते तो हम कुछ ही पीछे हटकर आत्मा ही से उसे प्राप्त करने का उद्योग क्यों नहीं करते ॥

२–हमारा यह स्वभाव है कि जो पुरुष हमारा विरोधी है अर्थात् वे काम करता है, जिन्हें हम बुरा समझते हैं तो वह पुरुष हमारे पास बैठने योग्य नहीं रहता और जो चाहता है कि उसे हमारा सङ्ग प्राप्त हो ? उसे हमारी अनुकूलता धारण करनी पड़ती है । परन्तु हम ऐसा नहीं करते कि परमेश्वर की उपासना (सङ्गति) में रहना चाहते हैं तो सर्वथा उस की आज्ञा वेद के अनुकूल चलकर अपने आप को परमात्मा के अनुकूल बनावें ॥

३–हम में से जो कोई ईश्वर की आज्ञा वेद के अनुकूल चलने का व्रत धारण करते हैं और संसार की बड़ी से बड़ी आपत्तियों का झेलकर भी वैदिकधर्म का झण्डा हाथ से नहीं छोड़ते, उन्हें भी जो ईश्वरप्राप्ति से विमुखता रहती है, उन्हें मैं समझता हूं कि परमात्मा किसी भीतरी दूषण से अयोग्य समझते हैं और वे दूषण इस प्रकार के हैं जैसे कि कोई पुरुष केवल इस कारण सांसारिक विरोधों के होने पर भी वैदिकधर्म के झण्डे को न छोड़े कि ऐसा करने से लोग मुझे कायर और डरपोक समझेंगे और मेरा पराजय और उनका जय समझा जायगा, तो भला वह ईश्वर का भक्त तो नहीं, किन्तु अपना भक्त है कि मैं करूं गा कहूं सो होय । नहीं २ उसे चाहिये था कि वह केवल इसी कारण उस झण्डे को न छोड़ता होता कि यह झण्डा ईश्वर का झण्डा है, उसका छोड़ना ईश्वर छोड़ना है, तो अवश्य वह ईश्वर का प्यारा बनता और उसे उस की प्राप्ति होती परन्तु ऐसा न करना वा न कर सकना ही सब कुछ करते भी उस से प्राप्त न होने का कारण है ॥

४–प्रायः बुद्धि सूक्ष्म होती है और अच्छे सूक्ष्म विषयों का विचार करने के योग्य भी पुरुष पाये जाते हैं और अशुभकर्म चोरी करना असत्यभाषण आदि से रहित भी पाये जाते हैं, सज्जनता भी है, क्रूरता नहीं करते, हिंसा नहीं करते, मद्यादि निषिद्ध पदार्थ नहीं पीते खाते, कुसङ्ग में नहीं रहते, आलसी और प्रमादी भी नहीं हैं, मूर्ख और जड़ भी नहीं हैं, बूढ़े भी नहीं हैं, युवा होकर भी विषयी भी नहीं हैं, इतने पर भी ईश्वर की प्राप्ति नहीं; किन्तु कहीं २ घोर नास्तिकता है । कारण यह है कि उस की प्राप्ति के लिये जिस परम पुरुषार्थ की आवश्यकता

है, वह नहीं किया। माना कि १५ वर्ष भारतवर्ष में विद्याध्ययन किया हो, फिर इङ्गलैंड सिधारे हों, मायान्त परिश्रम करके देह को ऐसा जर्जर कर दिया हो, जिसे देखते हुवे भी डर लगता हो, पढ़ते २ आंखें चश्मे से भी काम न देती हों, ऐसे पुरुष बहुत प्रकार की आचरणसम्बन्धी बुराई से दूर होकर भी, ईश्वरप्राप्त्यर्थ यदि कोई श्रम करते हैं तो केवल यही कि किसी आस्तिक पुरुष से दो चार घण्टे बात चीत करके भेद समझ में आजावे और ईश्वर का साक्षात् होजावे। महाशयो! जितना श्रम प्राकृत वस्तुओं की खोज में किया है, जो ईश्वर से बहुत स्थूल हैं, उस से अधिक की आवश्यकता है और हम तो उतना भी नहीं करते। फिर क्यों आशा करते हैं कि हमें ईश्वरप्राप्ति हो जावे, हमें आस्तिक पद प्राप्त होजावे, हम भटके न फिरें, इत्यादि। और इस प्रकार थोड़े मिनटों में आस्तिक, ईश्वर-भक्त, जीवन्मुक्त आदि बनने की इच्छा करते हैं तो इस बड़े पद से नीचे के पदों की प्राप्ति के लिये क्यों मायान्त परिश्रम कर पढ़ते हैं, क्यों आंखों और आन्तों के काम से बेकार बन जाते हैं, क्यों समुद्र पार जाते हैं, क्यों डालियें और भोज देते फिरते हैं, क्यों एक दिन के सूर्यग्रहण को देखने के लिये संसार भर के मनुष्य कई २ सहस्र मील के मार्ग चल कर एक घटना के देखने का श्रम उठाते हैं, क्यों कलाभवनों को स्थापित कर लक्षों रुपया व्यय कर शताब्दियों पर्यन्त एक एक नक्षत्रादि का चित्र खींच २ कर भाग्य-वश कभी कठिन से किसी एक विषय के ज्ञान में कृतकार्य होते हैं। यह सब किसी पुरुष से बात चीत वा शास्त्रार्थ करके क्यों नहीं प्राप्त कर लेते। यदि ये सब विषय केवल बातों से नहीं प्राप्त हो सकते तो ईश्वर की प्राप्ति में केवल बातों के सहारे सफलता की आशा क्यों की जाती है? यदि सफलता हो वा न हो केवल आशा पर विमान में बैठ कर अदृष्टपार अन्तरिक्ष में जाने का साहस करके पृथिवी के उत्तरीय ध्रुव और दक्षिणीय ध्रुवों के देखने की दीर्घयात्रा के बिना किये उस २ पदार्थ का ज्ञान प्राप्त करना असम्भव है तो सब से उत्कृष्ट, उच्च, श्रेष्ठ सर्वदुःखों से रहित, अनामय पद की प्राप्ति के लिये प्राचीन ऋषि मुनियों की भांति श्रम की आवश्यकता है; जो नहीं किया जाता है॥

५-हम जिस प्रकार एक विषय की प्राप्ति में लगते समय दूसरे सब विषयों का ध्यान छोड़ देते हैं। यदि हम चाहें कि हम ध्यानपूर्वक एक सूक्ष्म विषय के पुस्तक को भी पढ़ते रहें और साथ ही किसी का राग वा तान

भी सुनते रहें तो या तो राग वा तान ही अच्छे प्रकार सुन सकते हैं वा वह पुस्तक ही पढ़ सकते हैं, दोनों साथ नहीं, इसी प्रकार या तो हम परमात्मा ही का ध्यान करलें वा विषमय विषम विषयों ही के विषय में कृतकार्य हो जायं। दोनों एक साथ कैसे सधें। परन्तु हम सांसारिक धन्धों में ऐसे लिपटे हैं कि सन्ध्या करने प्रथम तो बैठते ही नहीं और बैठते हैं तो संसार भर के विचार हमें उसी समय आकर घेरते हैं, फिर हम जगत्पिता के ध्यान में कैसे मग्न हों?

६-हम ने उसे अन्तरात्मा में छोड़ बाहर ढूंढते फिरना आरम्भ किया, इस कारण भी वह प्राप्त नहीं होता। आप कहेंगे कि क्या बाहर नहीं है? केवल भीतर ही है? जब कि वेद कहता है कि-

तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः। यजुः ।४०।५॥

वह सब के भीतर और बाहर भी है तो जो लोग बाहर ढूंढते हैं वे अज्ञानी क्यों हैं? उत्तर-महाशयो! " वह इस सब के बाहर और भीतर है " इस का प्रयोजन बड़ी गंभीर दृष्टि से देखिये तो समझ में यह आवेगा कि इस सब जगत् के भीतर भी परमात्मा अर्थात् जहां तक जगत है वहां तक भी है और इस सब जगत के बाहर भी परमात्मा है अर्थात् वह इस जगत के बराबर ही नहीं किन्तु जहां जगत् नहीं है वहां भी परमात्मा है। ऐसा ही यजुः अध्याय ३१ मं० ३ में भी लिखा है कि-

एतावानस्य महिमाऽतोज्यायांश्च पुरुषः।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि०

उस की जितनी महिमा उस के बनाये जगत से विदित होती है। उतनी ही यथार्थ में नहीं है; किन्तु इस से बहुत अधिक है। उस की महिमा का एक भाग है जो जगत् से जाना जाता है। इस दशा में जब कि भीतर का तात्पर्य जगत पर्यन्त और बाहर का तात्पर्य जगत् के बाहर भी है तो जो लोग उस को बाहर ढूंढना चाहते हैं वे जगत् के बाहर जाकर तो ढूंढ ही नहीं सके; किन्तु भीतर ही ढूंढ सकते हैं और जगत के भीतर हृदयाकाश को छोड़ अन्यत्र ढूंढने में किसी न किसी वृक्ष पर्वत लोक लोकान्तर सूर्य चंद्रादि के अन्तर्गत व्यापकपने से विराजमान परमात्मा का चिन्तन करने से जगत् के वे २ व्याप्य पदार्थ भी चिन्तन का विषय होंगे। हम पूर्व कह आये हैं कि दो विषयों को एक वार ही नहीं चाह सकते हैं। इस कारण ईश्वर की

प्राप्ति नहीं होती; क्योंकि इन्द्रियां स्थूल हैं, वे स्थूल व्याप्य पदार्थ में रह जाती हैं, सूक्ष्म व्यापक तक नहीं पहुंचतीं। हां, यदि ध्याता जीवात्मा, ध्येय परमात्मा को अपने आप में ही ध्यान करे तो ईश्वरप्राप्ति सुलभ है। क्योंकि वहां ध्याता जीवात्मा और ध्येय परमात्मा के अतिरिक्त कोई तीसरा पदार्थ नहीं है जो ध्यान में विघ्नकारक हो। आप कहेंगे कि ध्यान करना अन्तःकरण का काम है, जब अन्तःकरण को छोड़ हम आत्मा ही से परमात्मा का ध्यान करें तो ध्यान काहे से करें अन्तःकरण तो है ही नहीं?

उ०-जड़ अन्तःकरण की सहायता बिना जड़ जगत् का ध्यान नहीं कर सकते, यह ठीक है; परन्तु परमात्मा जड़ नहीं। इसलिये जड़ अन्तःकरण की सहायता बिना उस का ध्यान कर सकते हैं। परन्तु प्रायः बाहर ढूंढते हैं जहां असंख्य व्याप्य पदार्थ हमको अपने ही में बान्ध लेते हैं इस कारण हम परमात्मा को प्राप्त नहीं कर पाते॥

७-जैसा देखने से सुनना भिन्न है, सुनने से छूना भिन्न है तथा छूने से चखना भिन्न है इसी प्रकार देखने, सुनने, छूने और चखने से ध्यान करना भिन्न है। क्योंकि लौकिक स्थूल पदार्थों का आंख से विषय करना देखना कहाता है और कान से विषय करना सुनना कहाता है, त्वचा से विषय करना छूना, रसना इन्द्रिय से विषय करना चखना कहाता है इसी प्रकार चित्त वा आत्मा से विषय करना ध्यान कहा है। इस दशा में देखना सुनना चखना छूना आदि भिन्न २ काम हैं, तब कोई देखने को सुनना कहे तो अज्ञानी है वा नहीं? अथवा सुनने को चखना वा छूने को देखना आदि कहे तो अज्ञानी ही है। इसी प्रकार देखने को "ध्यान" कहना भी अज्ञान है। तो जो लोग "ध्यान" के लिये आकार वा रूप की आवश्यकता समझते हैं वे अज्ञानी अवश्य हुवे। क्योंकि देखने को रूप की आवश्यकता है, सुनने को शब्द की आवश्यकता है, चखने को स्वादु की आवश्यकता है। इसी प्रकार ध्यान को "वस्तु है" इतने ही की आवश्यकता है, रूप रस शब्द आदि की नहीं। परन्तु लोग ईश्वर के ध्यान के लिये रूप की आवश्यकता समझते हैं इस कारण उस की प्राप्ति नहीं होती॥

८-ऐसे और बहुत से अज्ञान वा विपरीत ज्ञान हैं जो ईश्वर की प्राप्ति के बाधक हैं। अब हम उस की प्राप्ति का फल वर्णन करते हैं-

३-ईश्वरप्राप्ति का फल।

यद्यपि ईश्वर की प्राप्ति का फल स्वरूपलक्षणा से "ईश्वरप्राप्ति" है परन्तु तटस्थलक्षणा से उसका फल कुछ वर्णन करते हैं। मनुष्य संसार में कितना ही सुखी क्यों न हो; परन्तु कुछ न कुछ दुःख साथ में लगा रहता है। संसार समस्तसुख दुःखमिश्रित है। कोई मनुष्य यह नहीं बता सकता कि संसार का अमुक सुख ऐसा है, जिस में दुःख सम्मिलित न हो। बड़े २ चक्रवर्ती राजा भी दुःखों से रहित नहीं; किन्तु जितने बड़े उन्हें सुख हैं, उतने ही बड़े दुःख हैं। पूर्वकाल में कितने ही राजा राज्य छोड़ कर तपस्वी हुवे हैं यदि राज्य में दुःख न होता तो वे उसे क्यों छोड़ते? क्योंकि मनुष्य क्या पशु पक्षी भी सुख को नहीं त्यागते; किन्तु दुःख को त्यागते हैं और कभी कभी जो सुख को भी त्यागता कोई देखा जाता है उसका कारण भी उस सुख के साथ मिश्रित दुःख ही है। अपने प्राणों से प्यारा कठिन से कोई पदार्थ हो सकता है परन्तु मनुष्य दुःखों से घबड़ा कर कोटिशः प्रजा पर शासन करने वाले प्राणों को भी त्यागने को तत्पर हो जाता है। इत्यादि अनेक उदाहरण हैं जो संसार को दुःखमय सिद्ध करते हैं। अब इस प्रकार के सब दुःखों का छूटना ईश्वरप्राप्ति का फल है। बहुत लोग पूछते हैं कि ईश्वर जिसे प्राप्त हुआ और जिसे नहीं प्राप्त हुआ, इन दोनों में क्या विलक्षणता लोक में होती है जिस से ईश्वर की प्राप्ति का प्रत्यक्ष प्रमाण मिले। क्योंकि पारलौकिक मरणानन्तर होने वाले मोक्षमात्र फल से साधारणों की रुचि नहीं होती। उत्तर—यह ठीक है कि मरणानन्तर होने वाले मोक्ष से, इतर साधारण मनुष्यों को सन्तोष नहीं होता। परन्तु जिस पुरुष को ईश्वर प्राप्ति होती है वह जीवन्मुक्त भी हो सकता है। वह केवल देहयात्रार्थ श्रम करता है अन्यों से ईर्ष्या उसे नहीं रहती, क्योंकि वह सबको अपना भाई समझने लगता है। वह किसी देश वा किसी जाति के मनुष्यों में परायापन नहीं समझता क्यों कि पराये वे होते हैं जिन का पिता एक न हो। उसकी दृष्टि में सब का पिता परमात्मा एक है। क्यों उसने उस का साक्षात किया है। वह संसार के मनुष्यों के साथ द्वेष वा लड़ाई झगड़ा करना अच्छा नहीं समझता। जिस प्रकार पिता के सामने सगे भाई लड़ते हुवे पिता से डरते और पिता से छिपा कर लड़ते हैं। इसी प्रकार जिन्होंने यह जान लिया कि वह परमात्मा सब का अन्तर्यामी सदा सब को देखता है, इस लिये उसके देखते हुवे (और सदा देखता ही है) जो आपस में लड़ेंगे, उन्हें पिता दण्ड देगा। इस कारण ईश्वर की प्राप्ति का धनी पुरुष ईर्ष्या द्वेषादि से

पृथक् रहता है । वह निम्न लिखित वेद मन्त्र का अपना लक्ष्य बनाता है:-

ईशावास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥

(यजुः ४०।१)

[हे पुरुष ! त्वम्] तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः कस्यस्वित् धनं मा गृधः [तेन त्यक्तेन=तेन—येन] ईशा इदं सर्वं यत् जगत्यां जगत् [तत्] वास्यम् । इत्यन्वयः ॥

(यत्) जो (किञ्च) कुछ (जगत्याम्) सृष्टि में (जगत्) नश्वर पदार्थ है । (इदं सर्वम्) यह सब (ईशा वास्यम्) परमेश्वर से बसा है (तेन) उस ईश्वर के (त्यक्तेन) दिये हुवे से (भुञ्जीथाः) भोग तू (कस्यस्विद्धनम्) किसी के धन को मत ललचाये ॥

तात्पर्य यह है कि जो पुरुष ईश्वर को प्राप्त कर लेता है वह सदा परमात्मा की इस आज्ञा का पालन करता है कि " तू किसी के धन को मत ललचाये । " जिन लोगों को ईश्वर की प्राप्ति नहीं हुई वे अन्यों के धनादि पदार्थ हरने में सङ्कोच तो करते हैं परन्तु केवल इस भय से कि इस धनादि का स्वामी जान पावेगा तो हम को दुःख में पड़ना होगा । तिस पर कोई ऐसी युक्ति निकालते हैं जिस से उस धनादि का स्वामी न जानने पावे कि किस ने मेरे धनादि का हरण किया । रात्रि दिन उसकी चिन्ता में लगे रह कर इस अधम चातुरी के प्रताप से कोई न कोई रीति परधनहरणादि की निकालते हैं और तदनुसार आज कल इस प्रकार के पुरुषों की वृद्धि होती जाती है । जो इसी प्रकार (ईश्वर न करे) होती रहेगी तो मनुष्य जाति को भारी दुःख में पड़ने का दुर्दिन देखना पड़ेगा । इस लिये हमारा कर्तव्य है, विशेष कर उपदेशक ब्राह्मणों का कि उस सर्व-पिता सर्वव्यापी परमात्मा की प्राप्ति के लिये स्वयं भी प्रयत्न करें और अन्यों को भी प्रेरणा करें जिस से मनुष्य जाति पातकों से बचे, कल्याण का मार्ग दीखे, और विपत्तियों को रोक सके । इस कारण ईश्वर प्राप्ति का बड़ा भारी फल लौकिक उन्नति के लिये भी लाभदायक है । इस के अति-रिक्त मोक्ष के विषय में तो एक पृथक् व्याख्यान कभी लिखेंगे जो ईश्वर प्राप्ति से ही होता है ॥

अब हम उस की स्तुति प्रार्थना उपासना का फल वर्णन करेंगे-

"स्तुति प्रार्थना और उपासना का फल"

स्तुति का फल तो "उपायवर्णन" के साथ कुछ लिखा है और उतना ही पर्याप्त है और विशेष लिखने से भी समाप्ति तो हो ही नहीं सकती इस लिये प्रार्थना का फल कहते हैं—

प्रार्थना—

तेजोसि तेजो मयि धेहि । वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि । बलमसि बलं मयि धेहि० । इत्यादि । यजुः ॥ १९ ॥ ९ ॥

(तेजोऽसि) तू तेज है (तेजोमयि धेहि) तेज मुझ में धार (वीर्यमसि) तू सामर्थ्य है (वीर्यंमयि धेहि) सामर्थ्य मुझ में धार (बलमसि) तू बल है (बलं मयि धेहि) बल मुझ में धार॥

आप कहेंगे कि जिस प्रकार कोई पुरुष धूप में बैठा है तो उस पर सूर्य की गरमी का प्रभाव स्वतः ही पहुंचेगा चाहे वह कहे वा न कहे और जाने या न जाने कि सूर्य अपनी गरमी मुझ में धारता है या धारे । इसी प्रकार हम जो परमात्मा की व्यापकता में रहते हैं, हम पर परमात्मा के सद्गुणों का प्रभाव स्वयं भी उतना ही होगा जितना कि जानने वा प्रार्थना करने से होगा । इस लिये प्रार्थना का विशेष फल क्या होगा ?

उत्तर—आप देखते हैं कि संसार के प्राणियों के असंख्य शब्द आप के समीप होते रहते हैं जो वायु के द्वारा आपके कान तक उसी प्रकार आते हैं जिस प्रकार आप के प्रयोजनीय शब्द आते हैं परन्तु आप उनको सुनते हैं तब भी आप पर उनका प्रभाव इतना भी नहीं होता जिस से कि आप यह प्रतीत भी करें कि कोई शब्द आप के कान तक आया । इसी प्रकार बहुत से बिना प्रयोजन के स्पर्श भी आप करते हैं जिन को चित्त के अन्य धन्धों में लगे रहने से जान नहीं पाते कि यह स्पर्श कैसा है । जब यह दशा संसार के स्थूल शब्द स्पर्शादि की है तो परमात्मा जो सब से अत्यन्त सूक्ष्म है उस के सद्गुणों का प्रभाव जैसा कि प्रार्थना (जिस से चाव और उत्कण्ठा की वृद्धि होती है) के द्वारा प्रतिक्षण उन सद्गुणों के उपार्जन करने से हो सकता है, वैसा प्रभाव बिना जाने बिना प्रार्थना किये कैसे सम्भव है ? कदापि नहीं ॥

अब यह प्रश्न उपस्थित होगा कि उक्त दृष्टान्त से ज्ञान पूर्वक जैसे

प्रभाव होते हैं अज्ञानपूर्वक वैसे नहीं होते यह तो सिद्ध हो सकता है परन्तु प्रार्थना पूर्वक कुछ विशेषता नहीं प्रतीत होती ॥

उत्तर—प्रार्थनापूर्वक मिली वस्तु का सुख निर्धनों से पूछिये, भूखों से पूछिये, सत्य तो यह है कि बिना प्रार्थना के भी और बिना मांगे भी वह दयालु परमात्मा हम पर सद्गुणों की वर्षा अपने एकरस स्वभाव से कर हो रहे हैं। परन्तु जिस प्रकार बिना मांगे जिन्हें भूख मिटाने को रोटी मिलती है और बिना मांगे वस्त्रादि सामग्री प्राप्त हैं वे भूखे तो नहीं रहते किन्तु "भूत" हो जाते हैं, उन का घमण्ड यहां तक बढ़ जाता है कि परमात्मा तो सूक्ष्मातिसूक्ष्म होने से उन चर्मचक्षुओं को क्या दीखेगा किन्तु माता पिता आचार्य आदि स्थूल देहधारी पूजनीय रूप भी नहीं दीखते। वह माता का मान्य खोता है पिता की पत नहीं रखता, गुरु का गौरव नहीं समझता। सदा "सिद्धोऽहं कृतकृत्योऽहम्" के घमण्ड में चूर हो जाता है। जब उसे मान्य अमान्य में विवेक नहीं रहता, तब उद्दण्ड और उच्छृङ्खल होकर अकार्य करने लगता है, मान्यों का तिरस्कार करने लगता है, अमान्यों को मान्य देने लगता है, इस प्रकार विपरीत कर्मों को करते करते न जाने किस घोर विपत्ति का मुख देखने योग्य बन जाता है। इस लिये मनुष्य को योग्य है कि यदि वह नम्रता चाहता है, यदि वह नम्रभाव से परमात्मा का सुशील पुत्र बन कर सर्व प्रकार की धृष्टता दुर्जनता ईर्ष्या द्वेष मत्सरता और दुःशीलताओं से बच कर सभ्य सज्जन शान्त निरहङ्कार सौम्य सुशील होकर आनन्द भोगना चाहे तो परमात्मा के शरण में अपने को जानता हुआ सदा यही विचार रक्खे कि जो जो सुख शान्ति आदि मुझे भिन्न २ मार्गों और कार्यों से प्राप्त हुये हैं वा होंगी वे सब यथार्थ में परमात्मा का ही प्रसाद हैं और होंगी। दुर्लभ से दुर्लभ पदार्थों का दाता वही है, वही है जो गूंगे को बोलने वाला बनाता है, पगों से चलने में असमर्थ को भागने दौड़ने योग्य बनाता है। इस लिये उसी की स्तुति और उस से प्रार्थना किया करे। जिस से ऐसी दशा मनुष्य की हो जावेगी कि घोर विपत्ति में, दुःख में, शोक में, दुर्जनों के साथ उन से अवसर पड़ने पर अपनी रक्षा करने में और इसी प्रकार अन्य अनेक कठिन समयों में भी वह नहीं घबरावेगा। उस परमपिता के भरोसे यदि वह पाप का अनुष्ठान नहीं करता है और इस कारण जानता है कि वह मेरा रक्षक है तो

चाहे कैसा दुःखका समय हो, धैर्य से अतिवाहित करेगा। इसी प्रकार प्रार्थना के अनोखे बल से मनुष्य न जाने क्या क्या आनन्द पावेगा। अब हम प्रार्थना के प्रसंग में इस थोड़े से कथन पर ही समाप्ति करके उपासना के फल का विचार दर्शाते हैं–

उपासना और उस का फल

संस्कृत में "उप" उपसर्गपूर्वक "आस" उपवेशने, धातु से उपासना शब्द बना है इस लिये उपासना का अर्थ उप=समीप, आसना=बैठना। अर्थात् परमात्मा के समीप हो क्या उस में ही प्रतिक्षण हम रहते हैं इस विचार से मन्त्रपाठ अर्थविचार और विश्वास करते हुवे परमात्मा की सहायता को प्राप्त करते रहना, उपासना कहाती है। आप और हम सदा देखते हैं कि मनुष्यों और पशुओं के भी बच्चे, जब कभी कोई दुःख विपत्ति भय आदि आता है तो मा! कह कर अपनी माता के पास जाते हैं, वा हे पितः! कह कर अपने पिता की गोद में जा बैठते हैं और फिर उस भय दुःख आदि के दाता पुरुष वा वस्तु की ओर ताकते हैं और अपने जी में यह समझते हुवे कि अब तो हम माता वा पिता की गोद में हैं, अब हमारा यह क्या कर सकता है, निर्द्वन्द्व हो जाते हैं। इसी प्रकार सांसारिक दुःखों के सामने मनुष्य एक बच्चे के समान भीरु है; उस को पग २ पर दुःख और भय घेरे हुवे हैं चाहे कैसा ही बलवान् हो, राजा हो, धनी हो, परन्तु दुःख और भय से उस समय तक रहित नहीं हो सकता जब तक उपासना के बल से बलिष्ठ न हो॥

आप कहेंगे कि बहुत से मनुष्य संसार में ऐसे देखे जाते हैं जो उपासना नहीं करते तथापि भय और दुःख उन्हें न्यून हैं तथा बहुत से लोग नित्य १ घण्टा २ घण्टा और बहुत से सारे जन्मभर उपासना पूजा में रहते हैं, तथापि अनेक दुःख और क्लेश भोगते हैं। तो उत्तर यह है कि सदा याद रक्खो कि "सब भक्त, भक्त नहीं। सब उपासक, उपासक नहीं" संसार में दम्भ से बहुत काम लिया जाता है? बहुत लोग ऊपर से बड़े भक्त, उपासक, धर्म २ की पुकार मचाने वाले, कपड़े रंगने वाले, धर्मध्वज भी हैं; परन्तु भीतर से प्रतिक्षण स्वार्थपरता का घात लगाये रहते हैं, इन के विरुद्ध कई ऐसे भी मिलेंगे जो देखने में कोई बाहरी दिखावट उपासना भक्ति और धर्म को नहीं रखते परन्तु उन का प्रत्येक व्यवहार धर्म के अनुकूल है, प्रत्येक क्षण

ईश्वर को नहीं भूलते, किन्तु उस की आज्ञा के विरुद्ध नहीं चलते, ऐसे पुरुषों पर यदि पूर्वकृत कर्मविपाक से देखने में कोई दुःख भी पड़े तथापि उन के मन पर उस का प्रभाव बहुत न्यून पड़ता है और पक्के ही उपासक हों तो सर्वथा ही न पड़े ॥

उपासना से दूसरा फल यह भी होता है कि मनुष्य उपासक रहता है तो न केवल दुःख और भय ही उस को नहीं सता सकते; किन्तु वह पाप का अनुष्ठान भी नहीं कर सकता। जिस प्रकार रक्षक को देखकर चोर चोरी से निवृत्त होते हैं, माता को देख पुत्र मिट्टी खाने से बन्द हो जाते हैं, अध्यापक के सामने विद्यार्थी पढ़ने लग जाते हैं, कार्यालय के अध्यक्ष को देख कर उस के कर्मचारी अपने २ काम को ठीक करने लगते हैं, आलस्य प्रमादादि को छोड़ देते हैं। सावधान हो जाते हैं। इसी प्रकार सबके अध्यक्ष, सब के अधिष्ठाता परमात्मा को समीप पाकर उस के उपासक पापों से सदा बचते हैं। जो नहीं बचते वे उपासक, भक्त नहीं, धर्मात्मा नहीं; किन्तु दम्भी, मक्कार और धर्मध्वज हैं। इस लिये उपासना का यथार्थ फल, यथार्थ उपासक को ही होता है, दिखावे वाले को नहीं ॥

यथार्थ उपासक सांसारिक पुरुषों में अलग पहचाना जाता है। वह परमात्मा के न्यायादि गुणों से इस प्रकार सब ओर परिप्लुत रहता है जिस प्रकार समुद्र में कूदा हुआ पुरुष सब ओर से गीला और अग्नि में पड़ा हुआ लोहपिण्ड सब ओर से उत्तप्त हो जाता है ॥

महाशयो ! परमात्मा वाणी से भी उसी प्रकार अतीत है जिस प्रकार मन से अतीत है। इस लिये परमात्मा के साक्षात् करने का सामर्थ्य किसी पुरुष की वाणी वा लेखनी में क्या हो सकता है। अब हम इस व्याख्यान को समाप्त करते हैं और आप से अन्त में यही निवेदन करते हैं कि—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन०

इस का अर्थ "ईश्वर का अस्तित्व" शीर्षक में बता चुके हैं। आओ मिल कर उस की उपासना करें ॥ इति

तृतीय व्याख्यान

मुक्ति और पुनर्जन्म

हमारे पाठकों के अभिलाष का अनुमान भी नहीं; किन्तु बहुत से पत्र भी मुक्ति और पुनर्जन्म के विषय में हमारे पास आये हैं और वास्तव में ये दोनों ही विषय धर्म से ऐसा बड़ा सम्बन्ध रखते हैं जिस की बराबर धर्म से अन्य किसी विषय का लगाव नहीं है। प्रत्युत आजकल तो 'धर्म' [रिलीजन] का अर्थ ही केवल "पारलौकिक विश्वास" है। यथार्थ में यदि मनुष्य को यह निश्चय हो जावे (जैसा कि आज कल अधिकांश मनुष्यों का है) कि देहान्त होने पर परलोक वा पुनर्जन्म वा मुक्ति आदि कुछ नहीं, केवल देहात्मवादियों के समान यह मान लें कि देह का नाश होने पश्चात् तत्त्व तत्त्वों में मिल जाते हैं, तो फिर मनुष्य को पाप वा पुण्य कुछ वस्तु न ठहरेगा। क्योंकि मनुष्य देखता है कि संसार में बहुत से लोग उन कर्मों को बहुतायत से करते हैं जिन का नाम पाप है और बहुतों को देखा जाता है कि वे अपने किये पाप का बुरा फल कुछ भी न पाकर ही संसार से उठ जाते हैं। तथा बहुत से मनुष्य ऐसे भी देखे जाते हैं जो उन कामों को करते हैं जो काम समस्त देशों मतों और जातियों में अच्छे वा पुण्य, कहे जाते हैं। और ऐसे मनुष्यों में भी यह नियम नहीं कि वे पुण्यात्मा अपने पुण्य के कारण सब के सब सुखी ही रहें और शुभ फल को ही प्राप्त हों, किन्तु बहुतों को उलटा दुःखरूप बुरा फल भी होते देखा जाता है। बस, इस व्यवहार को उलटा पुलटा देख कर मनुष्य को इस बात पर पक्का विश्वास नहीं रहता और नहीं रह सकता कि पुण्य का फल अच्छा और पाप का फल बुरा ही होगा। किन्तु अकस्मात् बुरा वा भला चाहे जो फल हो जायगा। इस लिये मनुष्य सोचने लगता है कि क्यों पुण्य के अनुष्ठान में आने वाले कष्टों को झेलें, जब कि "पुण्य करने वाले सुखी ही रहेंगे" यह निश्चित नहीं है। यह केवल लिखने और युक्ति से आप पर भार डालने मात्र की बात नहीं है आप संसार में आंख पसार कर देखें, आप को चारों ओर यही अधिक दीख पड़ेगा। यथार्थ में यह एक ऐसी बड़ी बात है जो अपने कारणत्व से संसार को पापी वा पुण्यात्मा बना सकती है। यदि मनुष्यात्मा को यह विश्वास हो जावे कि " मृत्यु

के पश्चात् भी यदि मेरे पाप वा पुण्य शेष रहेंगे [और रहते ही हैं] तो मैं उनका फल दूसरी योनि, दूसरे लोक, और दूसरे जन्म आदि में पाऊंगा" तो आप समझ सकते हैं कि संसार में पुण्य का उत्साह और पाप का भय कितना बढ़ जावे और उस के बढ़ने से मनुष्य कितना अधिक पुण्य करने लगें और पाप से बचने लगें। संसार के बहुत से मत उन के प्रचारकों ने इसी अभिप्राय से चलाये कि मनुष्यों को पाप का भय और पुण्य का उत्साह हो; परन्तु उन सबों से [उन की अति वृद्धि होने पर भी] पाप न्यून न हुए। क्योंकि उन नव मतों तथा मत के प्रचारकों ने मनुष्य को कल्पित धर्मों से डरा कर पाप छुड़ाने चाहे, जिसका प्रभाव यह हुआ कि भोले भाले लोग प्रायः उन २ कामों से बचे, जिन कामों को उन मतवादियों ने पाप बताया। परन्तु चतुर मनुष्यों पर इसका प्रभाव उलटा पड़ा और चतुरों ने इन भोलों को बहुतायत देख यह तो उचित न समझा कि इन अन्धविश्वासों को झूठ सिद्ध करें। आत्मा की निर्बलता से वे (चतुर) यह भी नहीं जान सके कि हमारा हटाया यह अन्धविश्वास छूट सकेगा। किन्तु वे लोग इस अन्धविश्वास को जान बूझ कर भोलों से अपने को पुजाने के निमित्त अगुवा बन बैठे, और कभी २ इन चतुरों में ऐसे पुरुष भी उत्पन्न होते रहे जिन्होंने उन अन्धविश्वासों को पुष्ट करने के लिये उस समय के लोगों को चुपाने योग्य (फ़िलासफ़ी) युक्तिवाद भी घड़ लिया परन्तु इस का फल थोड़ी बुद्धिवालों पर ही हो सकता था और हुआ। इस समय जब कि चारों ओर विज्ञान की धूम मची है, प्रायः समस्त देशों के मनुष्य विज्ञान के समुद्र को अवगाहन करने पर उतारू हुवे हैं, तब भला उन अन्धविश्वासों से क्या काम चल सकता है और वे अयुक्त सर्पावनी कथा इन आजकल के सर्वज्ञकल्पता के अभिमानियों को क्या सन्तोष दे सकती हैं। यथार्थ में मनुष्यों की धार्मिक आवश्यकता को ईश्वरीय ज्ञान वेद के अतिरिक्त अन्य कोई पूरा नहीं कर सकता। जब कि संसार में वैदिकधर्म की उन्नति थी, जब कि उस के विरुद्ध मतमतान्तर और उन में लिखे अन्धविश्वास न थे, तब कणाद कपिल गौतम जैसे ज्ञान की खाल निकालने वाले धुरन्धर वैज्ञानिकों ने भी वेद और उस में लिखे मुक्ति वा पुनर्जन्म को अन्धविश्वास न बताया, जिन की यह घोषणा थी कि:-

अलिप्ततरत्वेऽपि नार्थोक्तिकस्य संग्रहोऽन्यथा
बालोन्मत्तादिसमत्वम्। सांख्य १-२६

अर्थात् "युक्तिहीन हठों का मानना भावुकों और उन्मत्तों की समानता करना है। उन युक्ति के पुतलों ने मुक्ति और पुनर्जन्म से नकार न किया। आज कल इस बड़े आवश्यक विषय (मुक्ति वा पुनर्जन्म) के विचार और निश्चय करने के लिये लोग कुछ भी समय नहीं देते। जब कि समस्त संसार के वृक्षों, आकाश के तारों, समुद्रों की गहराइयों और पहाड़ों की ऊंचाइयों को जानने के लिये घोर परिश्रम किया जा रहा है, जिन सब के जानने का प्रयोजन भी सुख की प्राप्ति और दुःख से बचाव के अतिरिक्त कुछ नहीं। प्राचीनकाल में सांसारिक सुख की प्राकृत सामग्री के सम्पादन और रक्षण की चिन्ता निस्सन्देह इतनी न थी, जितनी आज कल है, परन्तु सम्पूर्ण सामग्री और सुख भोग के पदार्थों के रहते हुवे कि जिस (पदार्थों के उचित उपयोग) के धर्मानुसार व्यवहार के बिना ये सब पदार्थ निज से उलटे दुःखदायक होते जाते हैं, इस रोग के मूल "परलोक में अविश्वास" के दूर करने के निमित्त बड़े २ मनुष्यों में प्रश्नोत्तर हुवा करते थे। यही कारण था कि अब की अपेक्षा तब धार्मिक व्यवहार बहुत अधिक था। अपने प्राचीन ऋषि मुनि जब कभी इकट्ठे होते इसी ज्ञानयज्ञ का आरम्भ करते थे कि "संसार को किसने उत्पन्न किया, मरने के पश्चात् क्या होगा" इत्यादि। देखिये नचिकेता ने मृत्यु से यही पूछा कि—

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके।

अर्थात् मनुष्य को जो यह सन्देह हुआ करता है कि "मरने पर कुछ परलोक परजन्मादि है वा नहीं" कोई कहते हैं कि है, कोई कहते हैं कि नहीं; मेरे इस प्रश्न का उत्तर दो। कठोपनिषद् १—२०

मृत्यु ने कहा कि—

देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा नहि सुविज्ञेयमणुरेष धर्मः।
अन्यं वरं नचिकेतो वृणीष्व मा मोपरोत्सीरति मा सृजैनम्

हे नचिकेतः! इस विषय के जानने को देवों (इन्द्रियों) ने भी बहुत उद्योग किया, किसी इन्द्रिय को इस का पता न लगा, यह सुगम ज्ञान नहीं किन्तु बड़ा सूक्ष्म है। इस लिये तू इस झगड़े में मत पड़। कठोपनिषद् १—२१ इस पर नचिकेता ने कहा कि—

देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा त्वं च मृत्यो न सुविज्ञेयमात्थ।

वक्ताचास्यत्वादृगन्योनलभ्योनान्योवरस्तुल्यएतस्यकश्चित्

हे मृत्यो ! यह कि ऐसा गहन विषय है कि जिस में देवों (इन्द्रियों या विद्वानों) को भी संशय हुआ है और तुम भी कठिन बात बताते हो, तो भला तुम सा कहने वाला और कौन मिलेगा ? और इस प्यारे प्रश्न के समान अन्य क्या प्रश्न हो सकता है ॥ १–२२

यथार्थ में यदि हम मृत्यु को अपने सम्मुख जान कर विचार करें तो मृत्यु ही है जिस के ऊपर ध्यान देने से हमारी समझ में इन गहन प्रश्नों का उत्तर आसकता है । जिन प्रश्नों का उत्तर मिलने से ही मनुष्य धर्मात्मा आस्तिक बनता है और जिनका उत्तर न पाकर ही मनुष्य इस नास्तिकता की अनुद्द तरङ्गों में बह जाता है, जिस के मारे कुछ पता नहीं कि दुःख सागर जो अशान्ति और असन्तोषमय है उस में कहां तक टक्कर खाता फिरेगा ॥

मनुष्य को मृत्यु ही सांसारिक लालच में डालता है कि जाने कब प्राण छूटें, मरने पर सब छुटेगा, इस लिये खूब भोग विलास कर लो । परन्तु विवेकी पुरुष इस मृत्यु से दूसरी शिक्षा लेता है कि न जाने कब प्राण छूटे, इस कारण क्षणिक सुख के लिये पापों की गठरी लादना ठीक नहीं है । जैसा कि मृत्युने नचिकेता को ललचाया कि–

शतायुषःपुत्रपौत्रान्वृणीष्व बहून्पशून्हस्तिहिरण्यमश्वान्
भूमेर्महदायतनंवृणीष्वस्वयंचजीवशरदोयावदिच्छसि । २३।

" बड़ी अवस्था वाले बेटे, पोते, बहुत से गौ, भैंस, हाथी, घोड़े, सोना, चांदी, भूमि और अपनी अवस्था (जीवन) बहुत सा बढ़ाले "॥

अर्थात् मनुष्य को (जो कि अविवेकी है) मृत्यु को देख कर इन पदार्थों का लालच आता है । परन्तु विवेकी नचिकेता ने उत्तर दिया कि–

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्सर्वेन्द्रियाणांजरयन्तितेजः ।
अपि सर्वंजीवितमल्पमेवतवैववाहास्तवनृत्यगीते ॥ १ । २६

कल ही कल में सब इन्द्रियों का तेज क्षीण होता जाता है, जिस से सम्पूर्ण जीवन भी थोड़ा ही है और हे मृत्यु ! तेरा ही वाहन [मनुष्य] है, तू इन पर सवार है, तेरे ही नृत्य और गीत हैं, सब के सिर पर नाचता है, तू सब पर अपना राग गाता है, तुझ से कोई नहीं बचा ॥ इस लिये–

न वित्तेन तर्पणीयोमनुष्यो लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्माचेत्वा।
जीविष्यामोयावदीशिष्यासित्वंवरस्तुमेवरणीयःसएव॥१-२७

धनादि से मनुष्य तृप्त नहीं हो सक्ता, यदि तुझे देखें तो धनादि मिलें जब तक तू चाहेगा तब तक हम जीवेंगे, इस लिये मेरा प्रश्न वही है कि तेरे पश्चात् (मरने पश्चात्) क्या होगा ?

अस्तु, इस नचिकेता और मृत्यु के सम्वाद के वर्णन से हमारा प्रयोजन यह था कि आप को विदित कराया जावे कि पूर्वकाल में इस पुनर्जन्म वा मुक्ति के विषय से लोग ऐसे निश्चिन्त और उदासीन न थे,जैसे आजकल। महाशयो! आज कल इन विषयों की चर्चा करने वाला बहुतों को सिड़ी जान पड़ता है, बहुतों को अन्धविश्वासी जान पड़ता है, और बहुतों को परलोक भय से दानादि के बहाने धनादि का अपहर्त्ता जान पड़ता है। और इस में सर्वांश दोष इन संशयात्माओं का ही नहीं है किन्तु यथार्थ में बहुत से मनुष्य भीतर से पुनर्जन्मादि पर कुछ भी विश्वास न रखते हुवे भी अन्य लोगों का उपदेश करते और उन से दानादि कराकर अपना प्रयोजन साधते हैं। बहुत से लोग इस पुनर्जन्म के विश्वास को न रखते हुवे भी,यह समझ कर कि हमारे बड़ों का यही विश्वास था, इस लिये चाहे मिथ्या वा,हानिकारक भी हो, परन्तु इसे न छोड़ेंगे—

तातस्य कूपोयमिति ब्रुवाणाः
क्षारं जलं का पुरुषाः पिबन्ति॥

बाप का कुआ है इस लिये इस का खारा पानी भी पीना चाहिये। ऐसे अन्धविश्वासी और सर्वथा अविश्वास के हठी मनुष्यों को छोड़ दीजिये, और केवल तटस्थ मनुष्यों के सम्मुख इस का विचार उपस्थित कीजिये कि पुनर्जन्म वा मुक्ति के विषय में निश्चित बात क्या है ?

हम को प्रथम पुनर्जन्म के विषय का विचार करना चाहिये, इस के अनन्तर मुक्ति का। क्योंकि पुनर्जन्म के ज्ञान पश्चात् मुक्ति का विषय समझने में सुगमता होगी। हम को यह भी अत्यन्त उचित है कि इस विषय के पक्ष और विपक्ष जो कुछ बातें कही सुनी जाती हैं उन का विचार करें और तब क्या सत्य है यह सार निकालें॥

महाशयो जैसे अन्य सब भूलें अविद्या हैं इसी प्रकार पुनर्जन्म का

अविश्वास रूप भूल भी अविद्या है और वह एक दूसरे विषयके अज्ञानके लगाव से होती है। अर्थात आत्मा के स्वरूप को न जानने से। क्योंकि अविद्या ही एक ऐसा बड़ा भारी क्लेश है जो अन्य सब क्लेशों का खेत है, जिस में अन्य सब क्लेश उपजते हैं। जैसा कि योग शास्त्र में लिखा है कि:

अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः॥ २
साधनपादे सू० ३ ॥

अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश, ये ५ क्लेश हैं। इनमें-

अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम् ॥४॥
उत्तरेषामस्मितारागद्वेषाऽभिनिवेशानां, किंभूतानाम्
प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम् , अविद्या क्षेत्रं प्रसवभूमिः॥

अगले अस्मितादि ४ क्लेशों की प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार ये ४ अवस्था हैं। उन चारों अवस्था वाले क्लेशों की जन्मभूमि अविद्या ही है॥ चित्त में शक्तिमात्र स्थित क्लेशों का बीजरूप से रहना प्रसुप्त अवस्था कहाती है और उगने पर सूक्ष्म क्लेश तनु कहाते हैं तथा अदृश्यमान क्लेश विच्छिन्न कहाते और विषय में आये हुवे प्रकटरूप क्लेश उदार कहे जाते हैं॥

तात्पर्य यह है कि अविद्या ही में प्रसुप्त रहते और अविद्या ही में अस्मितादि भी तनुभाव को प्राप्त हो जाते और अविद्या ही में विच्छिन्न और उदार भी बन सकते हैं। जैसे बिना खेत न बीज बोया जाता न उगता, न बढ़ता, न कट सकता है, इसी प्रकार अस्मिता आदि ४ क्लेश अविद्या भूमि ही में बोये जाते, उगते, बढ़ते और फटते हैं। यहां तक अविद्या का माहात्म्य कहा है। अब उस अविद्या के चार भागों में से उस एक भाग का वर्णन सुनिये जिस के वश में मनुष्य पुनर्जन्म के अविश्वास रूप भूल में पड़कर अनेक दुःखों और यातनाओं की तैयारी कर रहा है। अविद्या के चार भाग ये हैं:-

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचि-
सुखात्मख्यातिरविद्या ॥२॥ योगशास्त्रे ५ ॥

अनित्य को नित्य, अशुद्ध को शुद्ध, दुःख को सुख और अनात्माको आत्मा समझना अविद्या है ॥ ५ ॥

अनात्मा अचेतन देहादि को आत्मा समझना अविद्या का चौथा भाग है। इसी कारण मनुष्य पुनर्जन्म का विश्वास नहीं करता। अर्थात् मनुष्य को यह अविद्या लिपटी है कि वह देह को आत्मा समझता है। और आश्चर्य यह है कि केवल कुपढ़ वा अनपढ़ मनुष्यों को ही नहीं, किन्तु विद्वान् होने के अभिमानियों के पीछे भी यह अविद्या लिपटी है। यद्यपि मनुष्य अनेक शास्त्रों को पढ़ लेता है और अनेक तर्क वितर्कों से आन्दोलन करने पर यह कहता हुआ भी कि "देह से भिन्न आत्मा चेतन अजर अमर अनादि है। वह कभी किन्हीं अन्य पदार्थों की मिलावट से नहीं बना और इसी कारण वह न किसी का कार्य है और न किसी में लय को प्राप्त होगा।" कहता है कि "मैं दुर्बल हूं, मैं मोटा हूं, मैं पतला हूं, मैं लूला, लंगड़ा, अन्धा वा अमुक अङ्ग से हीन हूं।" भला जब यह किसी दूसरे पदार्थ के संयोग से नहीं बना तब इस में से न कुछ कम होता, न बढ़ता, फिर मोटा, पतला, लूला, लङ्गड़ा आदि व्यवहार कैसे सत्य हो सकता है? कभी नहीं, किन्तु शास्त्रों के पढ़ने पर भी बहुत काल की जमी हुई अविद्या सर्वथा दूर नहीं हो जाती; किन्तु बहुत काल पर्यन्त विद्या का अभ्यास करते रहने से अविद्या का दूर होना सम्भव है। आप आश्चर्य करते होंगे कि जब "देह से आत्मा भिन्न है" यह ज्ञान होगया तो फिर हम देह को आत्मा समझनारूप अविद्या में कैसे रह सक्ते हैं? परन्तु कुछ आश्चर्य न करना चाहिये, अभ्यास के बिना ज्ञानमात्र से काम नहीं चलता। विद्यार्थी को पाठ वा अर्थ का ज्ञान करा दिया जाता है परन्तु बारम्बार अभ्यास के बिना ज्ञान नहीं ठहरता। जब हम सड़क पर चलते हैं और अनुमान २४ अङ्गुल (१॥ फुट) भूमि की चौड़ाई से अधिक अपेक्षित नहीं होती अर्थात् चाहे सड़क १० गज़ चौड़ी हो, परन्तु हम केवल आधगज़ मात्र चौड़ाई पर चलते हैं। हमें यह ज्ञान भी है कि हमारे चलने के लिये इतने से अधिक चौड़ाई की आवश्यकता नहीं, परन्तु क्या हम किसी ऐसी सड़क पर जो केवल आध गज़ ही चौड़ी हो, सुगमता से चल सक्ते हैं? कभी नहीं। जब तक ऐसी संकुचित सड़क पर चलने का अभ्यास न हो, कभी निश्शङ्कभाव से नहीं चल सकते। किन्तु अभ्यास की महिमा अपार है, अभ्यास होने पर न केवल उस आध गज़ चौड़ी सड़क पर चल सक्ते हैं प्रत्युत उस से अत्यन्त संकुचित केवल एक अङ्गुल मोटे रस्से (रज्जु) पर भी चल सकते हैं जो केवल संकुचित ही नहीं,

किन्तु हिलता भी है, जिसके टूट जाने का भी भय है, जो पृथ्वी से दूर है। परन्तु अभ्यास बड़ी वस्तु है। इसी प्रकार हम को अविद्या का अभ्यास बढ़ रहा है। हम कभी २ अपने देह से भिन्न ठाट बाट, धन, वस्त्र, स्थान आदि को भी आत्मा समझने लगते हैं। क्या आप ने नहीं देखा कि एक मनुष्य का घोड़ा खोया वा मर जाता है और उस को ऐसा दुःख शोक होता है मानो उस के देह का कोई अङ्ग भङ्ग होगया हो, यही दशा मकान ढे जाने; वस्त्रादि भस्म होजाने और धनादि खो जाने पर भी होती है। जिसको मनुष्य जानता भी है कि वह मेरा अङ्ग न थे, किन्तु एक बाहर की वस्तु थे। हां, जब मनुष्य के निज घर में अग्नि न लगे किन्तु पड़ौसी के घर में लगे, तब वह इतना शोक नहीं करता जितना उस घर में अग्नि लगने से करता, जिसे वह अपना मानता है। यदि मनुष्य को यह ज्ञान हो कि वस्त्र में नहीं हूं, किन्तु वस्त्रों से मैं भिन्न हूं तो जिस प्रकार वस्त्र के विषय में यह सन्तोष कर सकता है कि मेरे ऊपर मढे हुए वस्त्र फुक, जाओ, कुछ चिन्ता नहीं, फिर बन जायंगे, क्या इसी प्रकार उस पुरुष की त्वचा में अग्नि लग जाने से यह सन्तोष नहीं हो जाना चाहिये कि त्वचा मुझ से भिन्न है फिर मिल जायगी। परन्तु ऐसा सोचने का उस को अभ्यास नहीं है। ठीक इसी प्रकार अविवेकी पुरुष तो वस्त्र धन धान्यादि के नाश को अपना ही नाश समझता है, कहता है कि हाय! मेरा नाश होगया, मैं नष्ट होगया, मैं घोड़े बिना लङ्गड़ा होगया मैं कोड़े बिना लूला होगया, मैं चश्मे बिना अन्धा होगया, इत्यादि। कारण यह है कि मनुष्य को अनात्मवाद ने ऐसा घेर रक्खा है कि वह अपने समीप की वस्तु मात्र को आत्मसात् बनाये हुये उस को आत्मा ही समझता और उस २ वस्तु के नाश को आत्मा का नाश मानता हुआ हाय २ करता है। भला इस को वस्त्र के नाश से ठीक ऐसा शोक क्यों नहीं होता जैसा कि त्वचा के नाश से? कारण यह है कि वस्त्रों को अपने से पृथक् और फिर से प्राप्त हो जायंगे, ऐसा मानता है; परन्तु त्वचा को अपने से पृथक् नहीं मानता और न यह मानता है कि यह भी फिर मिल जायगी। तब ही तो हमने ऊपर कहा है कि सचमुच मनुष्य देहात्मवाद की अविद्या में ग्रस्त है और नहीं विश्वास करता कि मैं देह से भिन्न, देहों के साथ नष्ट न होने वाला, एक के पश्चात् दूसरा फिर तीसरा इस प्रकार असंख्यात देहों का धारण करने वाला "पुनर्जन्मवान्" हूं॥

हम चाहते हैं कि वेद और ऋषिप्रणीत ग्रन्थों के प्रमाण भी पिछे से दें क्योंकि उन के श्रद्धालु पुरुषों को तो पुनर्जन्म वा मुक्ति में सन्देह नहीं। किन्तु प्रथम उन तर्कों का संग्रह और समाधान करना अधिक आवश्यक जान पड़ता है जो वेदादि शास्त्रों के अश्रद्धालु लोग किया करते हैं। हम ऊपर कह चुके हैं कि पुनर्जन्म के अविश्वास का कारण देहात्मवाद वा अनात्मवाद है। जो कहते हैं कि-

"देहोऽयमात्मा देहातिरिक्त आत्मनि मानाभावात्।

अर्थात् यह देह ही आत्मा है क्योंकि देह से भिन्न आत्मा में प्रमाण नहीं" उन को विचारना चाहिये कि सदा लक्षण से लक्ष्य वा लिङ्ग से लिङ्गी का ज्ञान हुआ करता है-

लक्षणप्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिः।

जीवात्मा देह से भिन्न, देह में स्थित है। उस के ये लक्षण हैं:-

इच्छा द्वेष प्रयत्न सुख दुःख ज्ञानान्यात्मनो लिङ्गमिति।

(न्यायदर्शन आन्हिक १ सूत्र १०)

तर्कशास्त्र के आचार्य गोतम जी कहते हैं कि १ इच्छा, २ द्वेष, ३ प्रयत्न ४ सुख, ५ दुःख और ६ ज्ञान; ये आत्मा के लिङ्ग हैं। इस से पूर्व सूत्र में यही तर्कशास्त्र के प्रणेता कह चुके हैं कि-

आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनः प्रवृत्तिदोष।

प्रेत्यभावफलदुःखाऽपवर्गास्तु प्रमेयम्॥

(आ० १ सूत्र ९)

१ आत्मा, २ शरीर, ३ इन्द्रिय, ४ विषय, ५ बुद्धि, ६ मन, ७ प्रवृत्ति, ८ दोष, ९ पुनर्जन्म, १० फल, ११ दुःख और १२ अपवर्ग=मोक्ष; ये १२ प्रमेय हैं। इन्हों ने इसी सूत्र में आत्मा और देह को भिन्न २ गिनाया है। इस के ऊपर वात्स्यायन भी अपने भाष्य में आत्मा को लिखते हैं कि:-

तत्रात्मा सर्वस्यद्रष्टा, सर्वस्य भोक्ता, सर्वज्ञः सर्वानुभावः॥

अर्थात् इन १२ में प्रथम आत्मा है जो सब का देखने भोगने, जानने और अनुभव करने वाला है। फिर वही वात्स्यायन उस से भिन्न देह को लिखते हैं कि:-

तस्य भोगायतनं शरीरम् ।

उस (आत्मा) का भोगस्थान शरीर है । इच्छा द्वेष प्र० इत्यादि पूर्व सूत्र पर वात्स्यायन जी लिखते हैं कि:-

यज्जातीयस्यार्थस्य सन्निकर्षात्सुखमात्मोपलब्धवान् तज्जातीयमेवार्थं पश्यन्नुपादातुमिच्छति। सेयमादातुमिच्छा एकस्याऽनेकार्थदर्शिनोदर्शनप्रतिसन्धानाद्भवति लिङ्गमात्मनः, नियतविषये हि बुद्धिभेदमात्रे न सम्भवति देहान्तरवदिति । एवमेकस्याऽनेकार्थदर्शिनोदर्शनप्रतिसन्धानाद्दु:खहेतौ द्वेषः । यज्जातीयोयस्यार्थः सुखहेतुः प्रसिद्धस्तज्जातीयमर्थं पश्यन्नादातुं प्रयतते, सोयं प्रयत्न एकमनेकार्थदर्शिनं दर्शनप्रतिसन्धातारमन्तरेण न स्यात्, नियतविषये बुद्धिभेद मात्रे न सम्भवति देहान्तरवदिति । एतेन दुःखहेतौ प्रयत्नो व्याख्यातः । सुखदुःखस्मृत्यान्वायं तत्साधनमाददानः सुखमुपलभते, दुःखमुपलभते, सुखदुःखे वेदयते, पूर्वोक्त एव हेतुः । बुभुत्समानः खल्वयं विमृशति किं स्विदिति ? विमृशन् जानीते इदमिति, तदिदं ज्ञानं बुभुत्साविमर्शाभ्यामभिन्नकर्तृकं गृह्यमाणमात्मलिङ्गम्, पूर्वोक्तएव हेतुरिति ॥

भाष्य का तात्पर्य यह है कि-१-इच्छा- जिस प्रकार के विषय से आत्मा ने सुख प्राप्त किया है उस प्रकार के विषय को देखता हुआ लेना चाहता है । यह जो लेने की इच्छा है सो एक ऐसे आत्मा को होती है, जो एक है और अनेक विषयों का देखने वाला है, उसी का यह " इच्छा " लिङ्ग है । यदि देह से भिन्न आत्मा न माना जावे और किसी विषय की लिप्सा को केवल बुद्धि का भेद माना जावे तो जैसे अन्य देहों के अनुभूत विषयों का अन्य देह को ज्ञान नहीं होता, इसी प्रकार यहां भी न होना चाहिये । क्योंकि बुद्धि और देह के अवयव प्रति क्षण बदलते रहते हैं, और पर्व

क्षण में थे वे वर्त्तमान क्षण में नहीं हैं। इस लिये आत्मा शरीर से भिन्न वस्तु न हो तो पूर्व जिस प्रकार के विषय से मनुष्य को सुख हुआ है। उस प्रकार के विषय को पुनः देखकर उस के लेने की इच्छा न होनी चाहिये। इस प्रकार एक आत्मा अनेक कालों में अनेक विषयों का द्रष्टा जो शरीर की भान्ति क्षीण नहीं होता, इस के मानने ही से यह बन सकता है कि वह पूर्वानुभूत विषयों को अनुभूयमान विषयों से मिलान करे और चाहे कि यह उसी प्रकार का विषय है जिस से मुझे सुख हुवा था इस लिये इसे लूं॥

२-द्वेष-जिस प्रकार क्षण २ में बदलने वाले शरीर वा बुद्धि को आत्मा मानने से "इच्छा" नहीं बन सकती, इसी प्रकार द्वेष भी नहीं बन सकता, क्योंकि जिस काल में जिस प्रकार के पदार्थ से दुःख हुआ था उस प्रकार के दूसरे विषय को देखने के समय देहात्मवादी के मतानुसार वही पुराणा एकरस रहने वाला आत्मा न मानने से "द्वेष" भी उस प्रकार के विषय से न होना चाहिये॥

३-प्रयत्न-जिस प्रकार का विषय जिस को सुख का हेतु होता है उस प्रकार के विषय को देख कर वह लेने का प्रयत्न करता है। यह प्रयत्न तब न होता जब कि एक ही पुराणा आत्मा सदा न रहता। जैसे अन्य देहों से भोगे सुख की प्राप्ति के लिये अन्य कोई प्रयत्न नहीं करता॥

इसी से दुःखदायक विषयों से बचने का प्रयत्न भी समझ लीजिये॥

४।५ सुख, दुःख-और दुःख को स्मरण करके सुख दुःख के साधनों से सुख दुःख को प्राप्त होता है। इस में भी हेतु वही है कि आत्मा देह और बुद्धि के साथ बदल जाता तो ऐसा न हो सकता॥

६-ज्ञान-जब कि आत्मा समझना वा जानना चाहता है तो सोचता है कि "यह क्या है"। फिर सोचने से जानता है कि वह "यह है"। अब जानना चाहिये कि जानने की इच्छा और सोचने का कर्त्ता ही इस जानने का भी कर्त्ता है, उस से भिन्न नहीं। यदि हम (आत्मा) देह ही होते और क्षण २ में बदलते (विपरिणत होते) तो जब जानने की इच्छा की थी तब वह जानना चाहने वाला अन्य कोई था, फिर विचारने वाला अन्य हो गया और जानने वाला कि "यह है" अन्य है। फिर यह कैसे बन सकता है कि आत्मा यह सन्तोष करे कि मैंने जो कुछ जानना चाहा

था, जान लिया। यह तो तभी बन सकता है कि जब एक ही आत्मा अशीर्ण भाव से जानने की इच्छा, विचार और यथार्थ ज्ञान का कर्त्ता माना जावे ॥

फलितार्थ यह है कि जो लोग आत्मा को अजर अमर अविनाशी अनादिकाल से एक के पश्चात् दूसरे योनियों में जाने आने वाला नहीं मानते, किन्तु तैल बत्ती और अग्नि के संयोग से दीपशिखा के तुल्य नया उत्पन्न हो जाता और नष्ट हो जाता मानते हैं, वे मानो आत्मा को प्रतिक्षण नया २ मानते हैं। दीपक में भी पूर्वक्षण में जिन तैलादि के परमाणु की स्थिति है, दूसरे क्षण में उस की स्थिति वहां नहीं रहती; किन्तु तैलादि फुंकता जाता है अर्थात् देशान्तर को रूपान्तर होकर उड़ता जाता है और नवीन तैलादि के अन्य परमाणु उस की पहिली जगह आते जाते हैं। इसी प्रकार शरीर जिन परमाणुओं का संघात है वे उस में स्थिरता से वर्त्तमान नहीं रहते, किन्तु नये परमाणु आते जाते हैं और पुराने निकलते जाते हैं। इस बात को हम कई प्रकार से जान सकते हैं। जब हम बालक थे तो शरीर छोटा था, उस में परमाणु न्यून थे, फिर बड़े होते गये, चारों ओर से अन्न जल वायु आदि के अंश हमारे देह में जुड़ते गये। इसी से यह देह भी कहाया। क्योंकि " दिह उपचये " धातु से अधिकरण कारक में घञ् प्रत्यय लगाने से " देह " शब्द बनता है। जिस का अर्थ यह हुआ कि जिस में अन्य परमाणुओं का उपचय (जमाव) वा लेप होता जाता है वह देह है। जिस प्रकार भित्ति पर लेप चढ़ाते रहने से वह कालान्तर में मोटी होजाती है, उसी प्रकार देह के भीतर अन्न से रस, रस से रक्त, रक्त से मांसादि बन २ कर देह मोटा होता जाता है। और जिस प्रकार पुरानी जीर्ण भित्ति पर लेप लगावो तो वह उसे लिपट नहीं सकता प्रत्युत पुराने लेव सहित उचल पड़ता है। इसी प्रकार यह शरीर अन्नादि से रसादि का ग्रहण क्रमशः कम करता, किन्तु उस में से पूर्व को भी लेकर खिसकता है और इसी खिसकने=शीर्ण होने वा मरने से शरीर नाम पड़ा। क्योंकि " शॄ हिंसायाम् " धातु से शीर्ण शब्द बना है। जिस का अर्थ " मरा हुवा है " और इसी धातु से:-

कॄ शॄ पॄ कटिपटिशौटिभ्य ईरन्। उणा० ।४।३०॥

इस सूत्र से "शरीर" शब्द बनता है कि जिसका अर्थ मरने वा मारा जाने वाला है। तात्पर्य यह है कि शरीर वा देह विपरिणामी है अर्थात् बदलता रहता

है। हां इतना कम है कि प्रथम अवस्था में घटती कम होती और बढ़ोतरी अधिक होती है। क्योंकिः—

चतस्रोऽवस्थाः शरीरस्य वृद्धिर्यौवनं सम्पूर्णता किञ्चित्परिहाणिश्चेति। आषोडशाद् वृद्धिः। आपञ्चविंशतेर्यौवनम्। आचत्वारिंशतः संपूर्णता। ततः किञ्चित्परिहाणिश्चेति॥ सुश्रुते सूत्रस्थाने ३५ अ०॥

शरीर की ४ अवस्थाहैं वृद्धि, यौवन, सम्पूर्णता और किञ्चित्परिहाणि। १६ वें (वर्ष) तक वृद्धि, २४ वें तक यौवन, ४० वें तक सम्पूर्णता, फिर किञ्चित्परिहाणि॥

१६ वें वर्ष पर्य्यन्त जो कुछ खाया पीया वा अन्य प्रकारों से शरीर में लिया जाता है वह अधिक होता है उस की अपेक्षा जो कुछ शरीर से निकलता है वह कम होता है। इस लिये आय अधिक और व्यय न्यून होने से शरीर की वृद्धि होती है। फिर १७ से २४ तक आय व्यय तो बराबर परन्तु आयका संघट्ट दृढ़ला करता जाताहै अर्थात् नवीन अणु पूर्वके अणुवों से दृढ़ता से मेल करते हैं इस से शरीर पुष्ट होता जाता है। फिर २५ से ४० तक प्रायः दृढ़ता पुष्टि का आय व्यय बराबर रहने से एकसा ही फल रहता है। फिर ४० वें वर्ष से ऊपर आय न्यून और व्यय अधिक होने लगता है इस से रस रक्त आदि धातु क्रम से घटने लगते हैं, हां ते २ बुढ़ापा जो मृत्यु का पूर्व रूप है सो मृत्यु तक पहुंचा देता है। अब शरीर मर गया। देहात्मवादियों के मत में आत्मा मर गया। । परन्तु उन्हें यह तो जानना चाहिये कि यदि परमाणुवों के संघात विशेष से ज्ञान का प्रादुर्भाव होता है तो जिस प्रकार देवदत्त के विशेष शरीरस्थ परमाणु संघात विशेष से यज्ञदत्त के शरीरस्थ परमाणु संघात में भेद है, इसी कारण देवदत्त को अनुभव हुआ विषय यज्ञदत्त को नहीं होता, क्योंकि अन्य संघात ने अनुभव कियाहै। परन्तु इसप्रकार एक शरीरमें भी प्रतिक्षण परमाणुवों का संघात नया २ होता रहताहै जैसा कि हम ऊपर सुश्रुत (वैद्यक ग्रन्थ)से बता चुके हैं। तो यदि ज्ञानाधिकारण आत्मादेह से भिन्न न हो तो देह के अवयव प्रतिक्षण बदलने से ज्ञान भी प्रतिक्षण बदलते जाना चाहिये। यदि ज्ञान बदलता रहे तो किसी विद्यार्थी को पाठ न याद होना

चाहिये। क्योंकि जब वह घोषता है तो पहिली आवृत्तिमें ठीक वही आत्मा नहीं था जो कि दूसरी बार उच्चारण करते समय होगया। एक विद्यार्थी ही क्या किसी को भी कुछ स्मरण न रहना चाहिये। किसी को किसी विषय के देखने से उस के लेने की इच्छा न होनी चाहिये। न किसी को किसी विषय से द्वेष होना चाहिये, न किसी को किसी विषय का ज्ञान रहना चाहिये। यदि कोई यह माने कि जो परमाणु रस रक्त मेदा मज्जा अस्थि शुक्र रूप से देह में मिल गये, वे मृत्युपर्य्यन्त उस में से नहीं निकलेंगे इस लिये ज्ञान न बदलेगा। उस का यह मानना भूल है, क्योंकि वीर्य्य का निकलना तो स्पष्ट ही है तथा अन्य धातु भी न्यून न हों तो सदा देह की वृद्धि ही रहा करे। बुढ़ापे तक वृद्धि का तार वैसा ही लगा रहना चाहिये जैसा १६वें वर्ष तक था। और ऐसा हो तो विना किसी प्रकार शस्त्रादि द्वारा हिंसा के, सामान्यतया किसी को बुढ़ापा भी न व्यापे और फिर कदाचित मृत्यु भी न हो। यद्यपि हम नहीं कह सकते हैं कि जो हिसाब किन्हीं लोगों ने लगाया है कि "७ वर्ष के लग भग में ७ वर्ष पूर्व का एक भी परमाणु नहीं रहता; किन्तु सब बदल जाते हैं।" ठीक ही है। परन्तु इस में तो किसी को भी सन्देह नहीं हो सकता कि अवश्य पुराने परमाणु निकलते और नये प्रविष्ट हुआ करते हैं, चाहे ७ वर्ष में वा इस से न्यूनाधिक काल में बढ़ा घटा करते हों॥

प्र०—"अच्छा तो हम को पूर्वजन्म का स्मरण क्यों नहीं?"

उ०—क्या आप को इस जन्म का सब स्मरण है? जब कि इस जन्म की भी गिनी चुनी बातें स्मरण में हैं, सब नहीं तो पूर्व जन्म जो न जाने किस लोक में, किस योनि में, किन इन्द्रियों में था, उस का ज्ञान न रहना क्या आश्चर्य है? जब कि इसी देह, इन्हीं इन्द्रियों और इसी लोक, नहीं नहीं इसी नगर वा घर तक की भी बहुत सी बातों का स्मरण नहीं। और पूर्वजन्म का स्मरण आवश्यक हो तो फिर उससे पूर्व का भी स्मरण होना चाहिये। फिर इसी प्रकार अनादि जीवात्मा के अनादि काल से जो असंख्य जन्म हो चुके हैं उन असंख्य जन्मों के असंख्य विषयों का असंख्य ज्ञान इस एकदेशीय अल्पज्ञ जीवात्मा को कैसे हो सके? बस जिस प्रकार तीव्र बुद्धि के विद्यार्थी अधिक विषयों का स्मरण रख सकते

हैं और अशुद्धि के नहीं। इसी प्रकार योगाभ्यासादि द्वारा अनेक जन्मों की स्मृति योगियों को रहती है, परन्तु अल्पज्ञ होने से पिछले अनन्त-जन्मों की स्मृति उन्हें भी नहीं रह सकती; किन्तु कई जन्मों की जहां तक अन्तःकरण शुद्ध हो वहां तक रह सकती है॥

प्र०–जब आत्मा स्वयं ज्ञाता है तो उसे अन्तःकरण शुद्धि की क्या आवश्यकता है। अपने आपही विना अन्तःकरण की शुद्धि आदि के भी उसे पूर्वजन्म का ज्ञान क्यों न रहे?

उ०–भला जब दीपक की शिखा (लौ) स्वयंप्रकाश है तो चिमनी के स्वच्छ रहने की उसे क्यों आवश्यकता है? इस लिये कि वह एकदेशीय है। इस कारण उसे अपने चारों ओर प्रकाश फैलाने के लिये सहायक चिमनी आदि की आवश्यकता है। चिमनी आदि के धुन्धला होने से प्रकाश धुन्धला और स्वच्छ होने से स्वच्छ होता है। इसी प्रकार जीवात्मा जो एकदेश हृदयकमल में निवास करता है उस को अन्तःकरण ने चारों ओर से उपहित कर रक्खा है। अब अन्तःकरण के स्वच्छ रहने से मल विक्षेप आवरणादि (ढकने) न्यून होते हैं और ज्ञान अधिक काम करता है और मल विक्षेप आवरणादि बढ़ने से ज्ञान का काम रुकता है, उस का न केवल पूर्वजन्म पर किन्तु इस जन्म पर भी प्रभाव पड़ता है और इस जन्म की भी स्मृति में बाधा पड़ती है॥

प्र०–अच्छा तो कम से कम कुछ तो स्मरण रहना चाहिये?

उ०–हां, पूर्वजन्म के अन्त समय की सब से पिछली बात जिस का बड़ी तीव्रता से प्रभाव पड़ता है यह अवश्य स्मरण में रहती है। उसका नाम

"अभिनिवेश" है।

योगशास्त्र के प्रमाण से जो अविद्यादि ५ क्लेश हम ऊपर गिना चुके हैं, उन में पांचवां "अभिनिवेश" है।

स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः।

योग०। पा० २। सू० ९।

(व्यासभाष्यम्-) सर्वस्य प्राणिन इयमात्माशीर्नित्या भवति, मा न भूवं भूयासमिति । न चाननुभूतमरणधर्मकस्यैषा भवत्यात्माशीः । एतया च पूर्वजन्मानुभवः प्रतीयते, स चायमभिनिवेशः क्लेशः स्वरसवाही । कृमेरपि जातमात्रस्य प्रत्यक्षानुमानागमैरसम्भावितो मरणत्रास उच्छेददृष्ट्यात्मकः पूर्वजन्मानुभूतं मरणदुःखमनुमापयति । यथा चायमत्यन्तमूढेषु दृश्यते क्लेशस्तथा विदुषोऽपि विज्ञातपूर्वाऽपरान्तस्य रूढः । कस्मात्-समाना हि तयोः कुशलाकुशलयोर्मरणदुःखानुभवादियं वासनेति ॥ ९ ॥

[पूर्वजन्म में सब से अन्त में मृत्यु दुःख हुआ था जिस के पश्चात् यह देह मिला] प्राणिमात्र का यह अभिलाष है कि "मैं न भूं" यह न हो। अर्थात् "मैं सदा जीऊं, मरूं नहीं"। और जिस ने कभी मरण दुःख का अनुभव न किया हो उसे यह मरण से भय नहीं हो सकता। इस से पूर्वजन्म का यह अन्तिम अनुभव प्रतीत होता है और यह क्लेश सब को एकसा है। कदाचित् मनुष्य को ही होता तो यह भी शान्ति सम्भव थी कि अन्य मनुष्यों की मृत्यु को तथा सांसारिक विषयों के वियोग को देख कर यह भय होता है कि हम भी मर कर इन सुख भोग से छूट जायंगे। परन्तु यही नहीं; किन्तु एक कीड़ा (कृमि) भी उत्पन्न होते ही मृत्यु दुःख से डरता देखा जाता है। जिस को प्रत्यक्ष अनुमान और शास्त्र द्वारा किसी प्रकार इस जन्म में मृत्यु का अनुभव होना सम्भव नहीं। यह मरण त्रास वा उच्छेद स्वरूपात्मक दुःख, पूर्वजन्म का अनुमान कराता है। और यह क्लेश जैसा मूर्खों को होता है वैसा ही पढ़े लिखों को भी, जो कि पूर्वापर के अन्त को जानते हों। यह चतुर और अचतुर दोनों को एकही प्रकार वासना मरणदुःख के अनुभव से है॥

फलितार्थ यह हुआ कि मरने से भय होता है सो इसी कारण होता है कि इस जीवात्मा ने पूर्वजन्म में मृत्यु के दुःख को भोगा है, उस का भय इस को ऐसे दबाता है जैसे बालक कभी किसी भयङ्कर रूप को देख कर डर जावे तो उस भय के सदृश दूसरे समय में भी उसप्रकार की वस्तु को

भिड़देवे तो फिर डरता है और रोता है और मुख फेरता है और मा बाप को चिपटता है। यद्यपि वह बालक अल्पज्ञ होने से ठीक स्मरण नहीं रख सक्ता तथापि भय का धक्का जो उस के हृदय में लगा है वह सामान्यरूप से उसे याद रहता है किन्तु उस भय का पूर्ण व्यौरा याद नहीं रहता। इसी प्रकार प्राणी, मृत्यु समीप आने पर डरता है और कभी २ रोताभी देखा गयाहै और हा हा करता तथा परमपिता परमात्मासे चिपटने के समान उसे याद करता है और कहता वा मन से सोचता है कि हे जगत्पिता ! ! मुझे अब की बार तो बचाले ! ! ! इस से सिद्ध होता है कि पूर्वजन्म है ॥

२-जो लोग ईश्वरवादी हैं अर्थात् ईश्वर और उस की व्यवस्था को मानते हैं उन्हें तो पुनर्जन्म इसलिये भी मानना चाहिये कि ईश्वर कर्मानुसार फल देता है और सब प्राणियों को एक ही जाति, एक सी ही आयु और एक से ही सुख दुःख के भोग नहीं दिये हैं तो बिना कारण के परमात्मा ऐसा क्यों करता। परमात्मा पूर्ण ज्ञानी है वह बिना कारण किसी को सुख वा दुःख नहीं देता। यह प्रतीत होता है कि परमात्मा ने जो प्राणियों को भिन्न २ जाति आयु और भोग दिये हैं वो भिन्न २ कर्मों के अनुसार दिये हैं। जिस प्रकार भोगस्थान शरीर है इसी प्रकार कर्म करने का साधन भी शरीर है न्याय दर्शन में लिखा है कि:—

चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम्। अ० १ सूत्र १०

चेष्टा=कर्म इन्द्रिय और विषयों का आश्रय शरीर है। जबकि शरीर बिना कर्म नहीं बनते तो मानना चाहिये कि जिन शुभाशुभ कर्मों के फल भोगवाने को परमात्मा ने भिन्न २ प्रकार के जाति आयु और भोग दिये हैं उन कर्मों का साधन कोई पूर्व देह था। इस से भी पुनर्जन्म सिद्ध है॥

३-कोई लोग कहते हैं कि सबसे पहिला जन्म किन कर्मों से हुवा ? उत्तर-अनादि पदार्थ में सब से पहिला नहीं होता। जीवात्मा अनादि है वह अनादि कालसे कर्मानुसार फलभोगता आताहै। हां, यह सृष्टि अनादि नहीं परन्तु इसी प्रकार की अनेक सृष्टि और अनेक प्रलय अनादि काल से प्रवाहरूप से चले आते हैं और चले जायंगे। इस लिये सब से पहिले जन्म का प्रश्न अयुक्त है॥

४-कोई लोग कहते हैं कि जब मनुष्यादि प्राणियों को यह याद नहीं

कि हम किस कर्म का अच्छा वा बुरा क्या फल भोगते हैं, तब पुनर्जन्म वृथा है यदि पुनर्जन्म में पूर्व जन्म के किये कर्म याद रहते तो उस के भय से आगे को वैसा न करता। उत्तर—जैसे राजा की यह इच्छा होती है कि उसकी प्रजा में कोई पुरुष अधर्म न करे परन्तु स्वाभाविक स्वतन्त्रता के कारण लोग अधर्म भी करते ही हैं, राजा उन को दण्ड तो देता है परन्तु स्वाभाविक बात को नहीं बदल सकता। इसी प्रकार जीवों की अल्पज्ञता स्वाभाविक है, वे सर्वज्ञ नहीं हो सकते। सर्वज्ञता के न होने से उन्हें स्मरण नहीं रह सकता॥

५—कोई कहते हैं कि राजा अन्तर्यामी नहीं इस लिये वह प्रजा को अधर्म से सर्वथा नहीं रोक सकता परन्तु परमात्मा तो रोक सकता है, उसे रोकना था और पिछले बुरे कर्म याद रखाने थे। उत्तर—परमात्मा जो सदा से करता है सो करता है, कोई नया काम नहीं करता, वह एक रस है। यदि आपके कथनानुसार हम को पिछले कर्म याद रखावे और इस से हम उन को जानकर अशुभ कर्मों से सर्वथा बच जावें, यह होसके तो हम फिर पूछते हैं कि क्या परमात्मा नया २ इसी जन्म में ऐसा करे। किन्तु इस से पूर्वजन्म में भी उस ने ऐसी याद क्यों न रखाई। जिस से याद रहता और डर कर हम अधर्म न करते तो इस जन्म में दुःख सर्वथा न होते। परन्तु इस जन्म में हुए दुःखों को प्रत्यक्ष देखकर जानना चाहिये कि जिस प्रकार इस जन्म में पूर्व जन्म याद नहीं, इसी प्रकार पूर्व जन्म में उस से पूर्व का जन्म याद न था, तभी तो वे कर्म किये, जिन का दुःख अब भोगते हैं। तात्पर्य यह है कि परमात्मा अग्नि को ठण्डा और जल को गरम, तमोगुण को सत्वगुण और अल्पज्ञ को सर्वज्ञ तथा जड़ को चेतन करता तो सब जड़ पदार्थ तथा जीवात्मा भी सर्वज्ञ परमात्मा हो जाते परन्तु बन्ध, अज्ञान और दुःख, प्रत्यक्ष हैं; जिन से जाना जाता है कि परमात्मा ऐसा नहीं करता। प्रकृति और जीवात्मा भी अपने गुण कर्म स्वभावों सहित अनादि हैं तो फिर परमात्मा उन के स्वभावों को तो नहीं बदलता और यदि बदलता तो आज क्या था, कभी का बदल देता। और अनादि परमात्मा अनादि जीवात्माओं तथा प्रकृति के गुण कर्म स्वभावों को बदल कर अपने तुल्य कर लेता तो आज न तो परमात्मा से भिन्न कोई कुछ रहता, न पाप पुण्यादि का भेद रहता, न जन्म मृत्यु रहते, न सुख दुःख और न अन्य कुछ॥

६—अब यह प्रश्न उठता है कि—यदि जीवात्मा को अल्पज्ञ होने से पूर्वजन्म का स्मरण नहीं रह सकता तो फिर इस जन्म में पहिले किये कर्मों को भोगते हुए भी उन का ज्ञान न होने से "शिक्षा" क्या मिली ?

उत्तर—यदि किसी को दण्ड देकर शिक्षा देकर सुधारा जाय और फिर भी वह सुधरना न चाहे यह उस की इच्छा । वास्तव में मनुष्य यह तो जान सकता है कि कर्म बिना फल नहीं । क्योंकि हम दिन रात देखते हैं कि चलने रूप कर्म से पहुंचना रूप फल होता है और भोजन से तृप्तिरूप फल तथा पीने से शान्तिरूप फल, इत्यादि सब ही फल अपने २ कर्मों से होते हैं । तथा जब मनुष्य को ज्वरादि रोग होते हैं तो चाहे सामान्य मनुष्य यह विशेष न जाने कि ये किस कारण से हुये परन्तु यह तो सब कोई जान सकता है कि किसी न किसी कुपथ्य का ही फल है । तथा विद्वान् वैद्य को यह भी ज्ञान हो सकता है कि यह ठीक रोग का कारण जान सके । इसी प्रकार योगी विद्वान् भी जान सकता है कि अमुक कर्म का अमुक फल हुवा । परन्तु जिस प्रकार संसार के वे लोग, जो वैद्य नहीं हैं, वैद्यों की शिक्षा पर चलने से रोगों से बच सकते हैं, उसी प्रकार संसारी साधारण मनुष्य भी आप्त विद्वान् धर्मात्मा योगियों, और ऋषि, मुनियों के माने और जाने हुवे वेदोक्त मार्ग पर चलने से पापों से बच कर दुःखों से छूट सकते हैं ॥

७—जो लोग देह को आत्मा मानते या देहों के साथ नये २ आत्माओं का उत्पन्न होना मानते हैं, उनके मत में एक और दोष आवेगा कि प्रत्येक कार्य अपने कारण से उत्पन्न होता है तदनुसार उन के मत में जिस प्रकार माता पिता का रज वीर्य शरीर का कारण है, उसी प्रकार आत्मा भी नया उत्पन्न होता हो तो उस का कारण भी पिता और माता ही मानने पड़ेंगे । और शतपथ ब्राह्मण के गर्भाधान संस्कार प्रकरण में लिखा है कि—

अङ्गादङ्गात्संभवसि हृदयादधि जायसे ।

॥ १४ । ७ । ५ । ८ ॥

पिता गर्भाधान करते समय सन्तान की कामना करता हुवा सन्तान की कल्पना करके कहता है कि "तू अङ्ग २ से उत्पन्न होता और हृदय से

अधिकृत उत्पन्न होता है" इस लिये उन के मत में अन्य एक अङ्ग माता पिता के रज वीर्य से आवें तो ज्ञान भी उसी से आवे। क्योंकि शरीर के साथ उन के मत में आत्मा भी पृथक् वा शरीर रूप ही उत्पन्न होता है, तो—

साक्षानुभूतस्य विषयस्य पुत्रेऽतिप्रसङ्गः।

माता के विषय ज्ञान-पुत्र में भी आने चाहियें, परन्तु ऐसा नहीं होता यदि ऐसा होता तो अंग्रेज़ों के बालक जन्म से अपनी माता से इङ्गलिश भाषा का ज्ञान गर्भ से लाते और आर्यावर्त्त के जन गर्भ से ही आर्यभाषा जानने वाले जन्म लेते तथा अन्यदेशीय भी। और भाषा ही क्या, बहुत विद्या और विज्ञान के अंश माता पिता से ही सन्तानों में आ जाते॥

८—कोई लोग कहते हैं कि हां, बुद्धिमती माता से बुद्धिमान् सन्तान और निर्बुद्धि माता से निर्बुद्धि सन्तान होते हैं, इस से जाना जाता है कि माता का ज्ञानांश सन्तान में आजाता है, इसी कारण यह भी कह सकते हैं कि ज्ञान भौतिक गुण है, आत्मिक नहीं॥

उत्तर—हम भी स्वीकार करते हैं कि बुद्धिमती माता के सन्तान बुद्धिमान् होने सम्भव हैं और यदि अन्य कोई कारण इस का बाधक न हो तो ऐसा ही होता है। परन्तु बुद्धि और ज्ञान में अन्तर है। मन बुद्धि चित्त अहङ्कार रूप अन्तःकरणचतुष्टय कहाता है, जो कि एक जड द्रव्य है। बुद्धि प्राकृत अर्थात् प्रकृति से उत्पन्न हुई है इस से जड है—इस विषय में सांख्याचार्य ने लिखा है कि—

सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः
प्रकृतेर्महान्महतोऽहङ्कारोऽहङ्कारात्पञ्च॰ इत्यादि॥

सांख्यदर्शन। अ॰ १ सूत्र ६१

अर्थात् सत्त्व रजः तमः की साम्यावस्था प्रकृति से महत्तत्त्व और महत्तत्त्व से अहङ्कारादि उत्पन्न हुए॥

महत्तत्त्व ही बुद्धि है जो प्रकृति का कार्य होने से जड है। इस लिये माता के जडांश बुद्धि का सन्तानों में आना हमारे सिद्धान्त का बाधक नहीं॥

प्रश्न—बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम्।

न्यायदर्शन अ॰ १ सूत्र १५

अर्थ—बुद्धि उपलब्धि ज्ञान, ये एकार्थ हैं। और आप बुद्धि को जड मानते हैं तो उसी का पर्यायवाचक (एकार्थी) ज्ञान भी जड हुआ? आत्मा का

गुण ज्ञान होने और ज्ञान के जड़ होने से आत्मा भी जड़ हुआ, तो आप की सिद्धान्तहानि हुई वा ?

उ०-न्यायदर्शन के मतानुसार बुद्धि और ज्ञान पर्याय हैं तब तो हमारा वही प्रश्न बना रहा कि माता का ज्ञान (न्यायमत से बुद्धि) पुत्र में क्यों नहीं आता। हां, सांख्यमतानुसार जड़ बुद्धि माता की पुत्र में आती है जो सांख्यानुसार बुद्धि आत्मा का गुण नहीं किन्तु प्राकृत द्रव्य महत्तत्व है। आप जो न्याय और सांख्य के संकेतों को एक समझ कर भ्रम में पड़े हैं सो ठीक नहीं। यदि ऐसा होता तो सांख्यमत में पाणिनि के मतानुसारी अ, ए, ओ को गुण शब्द का वाचक और आ, ऐ, औ को वृद्धि का वाचक क्यों नहीं समझा जाता है। यथार्थ में सब शास्त्रकार कुछ संज्ञा अपने ग्रन्थ के लिये नियत करते हैं। व्याकरण में धातु शब्द से 'भू' आदि का ग्रहण होता है, परन्तु वैद्यक में रस, रक्त, मांसादि ७ धातु कहाते हैं। विज्ञान में सोना, तांबा आदि धातु कहाते हैं। अब यदि व्याकरण में धातु से आगे प्रत्ययादि विधान करते हुवे कहीं सोना, चांदी आदि धातुओं से प्रत्यय लगाने लगा तो क्या भवति, भवसि आदि प्रयोग सिद्ध होंगे ? कभी नहीं। इसी प्रकार माता की बुद्धि पुत्र में आने का तात्पर्य यह है कि बुद्धि तत्त्व सांख्यानुसारी पुत्र में आता है, न कि न्यायशास्त्रानुसारी ज्ञान, जिस के पर्याय का नाम भी न्याय की परिभाषा में बुद्धि है ॥

८-इस में तत्त्व यह है कि जिस प्रकार आत्मा की देखने की शक्ति आंख इन्द्रिय द्वारा काम करती है, सुनने की शक्ति कान द्वारा काम करती है, इसी प्रकार ज्ञान वा बुद्धि (न्यायमतानुकूल) सांख्यानुसारि बुद्धितत्त्व के द्वारा काम करती है। जिस प्रकार देखने, सुनने, चखने सूंघने आदि के लिये आत्मा को आंख, कान, रसना, नाक आदि बाह्येन्द्रियों की आवश्यकता है, इसी प्रकार जानने के लिये [सांख्यानुसार] बुद्धिरूप आन्तरिक इन्द्रिय की आवश्यकता है ॥

महाशयो ! यद्यपि इस पुनर्जन्म के विषयमें अनेक युक्ति और प्रमाण अन्य भी दिये जा सकते हैं तथापि व्याख्यान बढ़ने के भय से इस विषय की यहीं समाप्ति करते हैं। केवल अन्त में कुछ वेदमन्त्र सुनाते हैं क्योंकि परोक्ष विषय में केवल युक्ति प्रमाण ही पर्याप्त नहीं, क्योंकि मनुष्य की सोची हुई युक्तियों में भूल भी संभव है, परन्तु साक्षात ईश्वरोपदेश वेद में

संदेह का लेश भी नहीं हो सकता तथा समस्त परोक्ष विषय परमात्मा के उपदेश बिना मनुष्य को स्वयं अनुभूत भी नहीं हो सकते ॥

असुनीते पुनरस्मासु चक्षुः पुनः प्राणमिह नो धेहि भोगम्।
ज्योक् पश्येम सूर्यमुच्चरन्तमनुमते मृडया नः स्वस्ति ॥

ऋ० १० । ५९ । ६ ।

अर्थ—हे (असुनीते) प्राणपते ! परमात्मा ! (अस्मासु चक्षुः पुनः धेहि) हम को आंखें फिर दो (पुनः प्राणम्) फिर प्राण दो (भोगम्) भोग [भी फिर दो] (उच्चरन्तं सूर्यम् ज्योक् पश्येम) जिस से हम निकलते सूर्य को सदा देखें (अनुमते) हे सुशिक्षक ! (नः) हम को (मृडय) सुखी करो (स्वस्ति) हमारा कल्याण हो ॥

अब हम यह दिखलाना चाहते हैं कि जब एक शरीरको आत्मा छोड़ देता है और प्राणादि वायु उस से बिछुड़ जाते हैं, तो पुनः उसे कहां से प्राणादि प्राप्त होते हैं:—

पुनर्नो असुं पृथिवी ददातु पुनर्द्यौर्देवी पुनरन्तरिक्षम् ।
पुनर्नः सोमस्तन्वं ददातु पुनः पूषा पथ्यांश्या स्वस्तिः ॥

ऋ० १० । ५९ । ७

अर्थ—(पृथिवी नः पुनः असुं ददातु) पृथिवी हमको फिर जीवन देवे (देवी द्यौः पुनः) दिव्य द्युलोक फिर जीवन देवे (अन्तरिक्षम् पुनः) अन्तरिक्ष फिर जीवन देवे और (सोमः नः पुनः तन्वं ददातु) सोमादि ओषधियां हमें फिर देह देवें (पूषा पुनः पथ्याम्) पुष्टिकर्त्ता फिर धर्ममार्ग देवें (या स्वस्तिः) जो कि सुखदायक हो ॥

तात्पर्य यह है कि पृथिवी अन्तरिक्ष और द्युलोक में जो प्राण वायु वर्त्तमान है, उसी में से जीवात्मा को पुनः प्राण प्राप्त हो जाता है । तथा औषधियों से पुनः देह मिल कर वृद्धि को प्राप्त होने लगता है । आगे वर्णित अथर्ववेद का मन्त्र स्पष्ट अनेक जन्मों का कथन करता है:—

आयो धर्माणि प्रथमः ससाद ततो वपूंषि कृणुषे पुरूणि ।
धास्युर्योनिं प्रथम आविवेशायो वाचमनुदितां चिकेत ॥

अथर्व कां० ५ अनु० १ वर्ग १ मन्त्र २ ॥

अर्थः—(यः) जो पुरुष (अनुदितां वाचम्) हृदय में उपदिष्ट वाणी वेद को (आ विवेश) समझता, पढ़ता है और (यः) जो (प्रथमः) अनादि जीव (धर्माणि) धर्मकार्यों को (आ ससाद) समीप होता है। वह (ततः) तदनुसारी (पुरूणि वपूंषि) बहुत से शरीर (चक्रुषे) करता=धारता है (धास्युः) जो आगे स्तनपान करेगा वह (प्रथमः) प्रथम (योनिम् आ विवेश) योनि में प्रवेश करता है॥

इस में जीवात्मा का अनेक जन्म धारना और योनिप्रवेश, गर्भवास करना स्पष्ट उपदेश किया गया है॥

अब यह तो निश्चित हो गया कि पुनर्जन्म अवश्य होता है परन्तु पुनर्जन्मवादी को अत्यन्त सावधान होना चाहिये। क्योंकि जब देखा जाता है तो एक जन्म ही अनेक प्रकार के दुःखों से भरपूर है, फिर अनेक जन्मों के दुःखों का क्या ठिकाना है। बहुतों का विश्वास है, नहीं नहीं विरले आत्मज्ञानियों को छोड़ कर शेष सब मनुष्यों का विश्वास है कि संसार में जहां अनेक दुःख हैं वहां अनेक सुख भी तो हैं, फिर संसार के त्याग की इच्छा क्यों की जावे? परन्तु यदि विचारदृष्टि से देखते हैं तो प्रत्येक मनुष्य की यह इच्छा है कि मुझे ऐसा सुख मिले, जिस में लेश भी दुःख का न हो, किन्तु संसार के चक्रवर्ती राजा भी दुःख के स्पर्श से रहित नहीं। प्रत्युत जितना अधिक ऐश्वर्य हो, उसी के समान अधिक दुःख का भोग भी होता है। महाभारत शान्तिपर्व अध्याय १७—

धनवान् क्रोधलोभाभ्यामाविष्टो नष्टचेतनः।
तिर्यगीक्षः शुष्कमुखः पापको भ्रुकुटीमुखः॥१४॥
निर्दशन्नधरोष्ठं च क्रुद्धो दारुणभाषिता।
कस्तमिच्छेत्परिद्रष्टुं दातुमिच्छति चेन्महीम्॥१५॥

अर्थ—धनवान् पुरुष क्रोध और लोभ में भरा रहता है, उस की बुद्धि नष्ट होती है, तिरछा देखता है, मुख सूखा होता है, पापी, भौंह चढ़ाये॥१४॥ होठ चबाता, क्रुद्ध और क्रूरभाषी होता है। यदि वह किसी को समस्त पृथिवी का दान भी देता हो तो भी उस का मुख देखना कौन पसन्द करेगा?॥१५॥

और निर्धन की अपेक्षा धनवान् को अधिक चिन्ता होती है और चिन्ता महादुःख है। किसी कवि ने कहा है—

चिता चिन्ता द्वयोर्मध्ये चिन्ता चैवगरीयसी ।
चिता दहति निर्जीवं चिन्ता चैवसजीवकम् ॥

अर्थात् चिता से चिन्ता अधिक दुःखदायिनी है, क्योंकि चिता केवल मृतक को फूंकती है और चिन्ता जीवित को भी दग्ध करती है । यही कारण था कि पूर्व काल के बड़े २ ऐश्वर्यशाली राजों ने वानप्रस्थाश्रम धारण किये। समस्त ऐश्वर्य को दुःखमय समझा । तार दृष्टि से देखा जावे तो संसार में सुख है भी असंभव । क्योंकि यथार्थ में सुख सजातियों के सङ्ग से होता है। दृष्टान्त के लिये देखिये कि विद्वान् को विद्वानों की सभा में सुख होता जान पड़ता है । पशुओं को पशुओं में, पक्षियों को पक्षियों में और व्यस-नियों को व्यसनियों में, व्यापारियों को व्यापारियों में, यहां तक कि एक जेल (कारागार) के बन्दी को दूसरे बन्दियों के साथ रहना भी एकान्त कारागृह से अच्छा जान पड़ता है । इन सब दृष्टान्तों से हम भले प्रकार समझ सकते हैं कि सुख सदा साधर्म्य से होता है, वैधर्म्य से दुःख । अब अब यह विचारना चाहिये कि यद्यपि संसार में मनुष्यको समानता अनेक प्रकार की मिलती हैं, जो सब २ अंश में सुख का कारण हैं, परन्तु असमानता भी बहुत ही प्रकार की हैं, जो दुःखों का कारण हैं । तब प्रत्येक मनुष्य का यह कर्त्तव्य है कि वह उस सहधर्मी को खोजे, जिस से इस का सब से अधिक समान धर्म मिल जावे ॥

प्रत्येक पुरुष, जो हमारे ऊपर के वर्णन से-यह समझ चुका है कि देह मरणधर्मा और प्राकृत है तथा आत्मा अमर और अप्राकृत है, उस को समझना सुगम है कि आत्मा का साधर्म्य किसी अमर और अप्राकृत पदार्थ से ही हो सकता है । इस लिये प्रत्येक मनुष्य को अजर अमर और अप्रा-कृत परमात्मा के प्राप्त करने की आवश्यकता है ॥

यहां किन्हीं लोगों को यह तर्क उठ सकता है कि एक जीवात्मा अन्य जीवात्माओं को प्राप्त होकर भी परमानन्द को प्राप्त हो सकता है क्योंकि वे भी इस के समानधर्मी हैं, परन्तु वे न तो सर्वदेशीय हैं जो सर्वत्र मिल सकें और इसी से न सर्वाधार हैं, जो इस परमानन्द के जिज्ञासु का धारण कर सकें । इस लिये एक परमात्मा ही है जो सर्वत्र उपलब्ध हो सकता है और जो संसार की यातनाओं से पीड़ित जीवात्मा को शान्ति का दान दे सकता है और इस को धारण कर सकता है । दूसरे कोई जीवात्मा

अन्य जीवात्मा में व्यापक नहीं होता, इस लिये एक जीवात्मा का दूसरे जीवात्मा से सार्वत्रिक और सर्वथा मेल भी नहीं होता। तब भला प्रकृति-जन्य अन्य पदार्थों का तो कहना ही क्या है जो जड़ होने से आत्मा के साथ अत्यन्त वैधर्म्य रखते हैं॥

हम इस से पूर्व "ईश्वर और उस की प्राप्ति" नामक व्याख्यान में इस विषय का वर्णन भले प्रकार कर चुके हैं, इस लिये यहां पुनर्वार वर्णन करना पुनरुक्ति होगी और व्याख्यान भी बढ़ेगा। इस लिये उसे वहीं से लीजिये। यहां तो केवल यह विचार करना है कि मुक्ति में जब देह नहीं, इन्द्रियां नहीं, विषय नहीं, तब आनन्द ही क्या है, जिस के लिये समस्त सुखों में लात मारी जावे?

अहो! मानवात्मा भी क्या ही मूढ़ है जो ऐसे कुतर्कों से अपने को कलुषित करता है। भला जब देह इन्द्रियां और समस्त विषय प्राकृत होने से उस के सहधर्मी ही नहीं, तब यह सोचना कि इन के बिना सुख कहां और कैसे मिलेगा। अरे! हतभाग्य पुरुष! जब तू अपने समानशीलव्यसन किसी मित्र से मिलता है तब तुझे दूध, मलाई या मिठाई क्या मिलती है? कुछ भी नहीं। अथवा किसी हाथी घोड़े की सवारी मिलती है? वह भी नहीं। फिर तुझे क्या मिलता है? जिस पर तेरी भूख और प्यास तक भी विसर्जित हो जाती हैं। जब कि क्षणापायी सांसारिक वयस्यों का वा मित्रों का मिलना भी इतना सुखदायक है और रसनादि के विषय की अपेक्षा नहीं करता तब आनन्दघन और चैतन्यघन और चारों ओर ही नहीं किन्तु भीतर भी व्यापक होने वाला परमात्मा मिले, तब क्या कोई कामना शेष रह सकती है। उपनिषदों में इस अवस्था का विस्तार से वर्णन है और कोई पुरुष बिना उपनिषद् पढ़े इस अवस्था के आनन्द को कुछ भी समझ सके, यह असम्भव नहीं तो उस के समीप ही है। क्या समुद्र में कूदने पर भी कोई पुरुष सूखा रह सकता है? क्या अग्नि की दंदह्यमान ज्वाला में बैठ कर भी कोई दाह से बच सकता है? कभी नहीं। तब क्या आनन्दघन परमात्मा में मग्न पुरुष भी किसी विषय का स्मरण करेगा? जो विषय कि मुक्ति में तो क्या, विचारदृष्टि से संसार में भी नरकप्राय हैं। हम आप के चित्तविनोदार्थ थोड़ा सा उपनिषद् का पाठ आप के सामने रखते हैं, और पूर्ण आशा है कि इस से आप की रुचि उपनिषद् ग्रन्थों

के पाठ से अवश्य होगी, जो ब्रह्मज्ञानी वा मुमुक्षु के लिये आवश्यक है।
छान्दोग्योपनिषद् प्रपाठक ७। खण्ड २४। २५—

यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति, स भूमाऽथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पं, यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यंꣳस भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि, यदि वा न महिम्नीति ॥ १ ॥ गोअश्वमिह महिमेत्याचक्षते हस्तिहिरण्यंदासभार्यं क्षेत्राण्यायतनानीति, नाहमेवं ब्रवीमि, ब्रवीमीति ह होवाचान्यो ह्यन्यस्मिन् प्रतिष्ठित इति ॥२॥ इति चतुर्विंशः खण्डः ॥ २४ ॥

सएवाधस्तात स उपरिष्टात् स पश्चात स पुरस्तात् स दक्षिणतः स उत्तरतः स एवेदꣳ सर्वमित्यथातोऽहङ्कारादेश एवाहमेवाधस्तादहमुपरिष्टादहं पश्चादहं पुरस्तादहं दक्षिणतोऽहमुत्तरतोऽहमेवेदꣳ सर्वमिति ॥ १ ॥
अथात आत्मादेश एवात्मैवाऽधस्तादात्मोपरिष्टादात्मा पश्चादात्मा पुरस्तादात्मा दक्षिणत आत्मोत्तरत आत्मैवेदꣳ सर्वमिति। स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः स स्वराड् भवति, तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवत्यथ येऽन्यथाऽतोविदुरन्यराजानस्ते क्षय्यलोका भवन्ति तेषाꣳ सर्वेषु लोकेष्वकामचारो भवति ॥ २ ॥ इति पञ्चविंशः खण्डः ॥ २५ ॥

जहां मुक्त पुरुष (ब्रह्म के अतिरिक्त) न कुछ और देखता है, न और सुनता, न कुछ और समझता है, वही लोक महान् से महान् है। और जिस

लोक में एक को देख कर अन्य को देखता है, एक को सुन कर दूसरे को सुनता है, एक को जान कर दूसरे को जानता है वह अल्प अर्थात् तुच्छ है। इस लिये जो महान् से महान् है वही अमृत है। और जो अल्प है वह मरने वाला है। प्रश्न-भगवन्! वह महान् से महान् किस से स्थित है? उस का आधार कौन है? उत्तर-उस का आधार कोई नहीं, वह अपना आधार आप है ॥१॥ बहुत से लोग मान लेते हैं कि गौ, घोड़े, हाथी, सोना, चांदी, नौकर, चाकर, स्त्री, खेती, हाट, हवेली ही महिमा है, यही बड़े से बड़ी वस्तु हैं। परन्तु मैं तो यह नहीं कहता। मैं तो यह कहता हूं कि इन सब वस्तुओं के भीतर व्यापक और ही एक वस्तु है जो कि महिमा है अर्थात् बड़ी से बड़ी वस्तु है ॥ १ ॥ (२४)

वही नीचे, वही ऊपर, वही पीछे, वही आगे, वही दहिने, वही बायें वही सब जगह जान पड़ता है। और वह परमपिता अहं शब्द से मुमुक्षु पुरुष को बताता है कि देखो यह मैं ही हूं। मैं ही नीचे, मैं ही ऊपर, मैं ही पीछे, मैं ही आगे, मैं ही दहिने, मैं ही बायें, मैं ही यहां सर्वत्र हूं ॥ १ ॥ फिर वह कृपालु आत्मा शब्द से निर्देश करता है कि देखो यह आत्मा ही नीचे, आत्मा ही ऊपर, आत्मा ही पीछे, आत्मा ही आगे, आत्मा ही दहिने, आत्मा ही बायें, आत्मा ही सर्वत्र है। जब जबकि मुमुक्षु इसी प्रकार देखता है, इसी प्रकार मानता है, इसी प्रकार जानता है, तब तब परमात्मा ही में रति करता है, परमात्मा ही में क्रीड़ा करता है, परमात्मा ही से जोड़ी बनाता है, परमात्मा ही से आनन्द करता है। तब वह स्वतन्त्र होजाता है, समस्त लोकों में यथेष्ट विचरता है। परन्तु जो अन्यथा जानते हैं, वे परतन्त्र होते रहते हैं, उन के देह छूटते रहते हैं, वे सब लोकों में यथेष्ट नहीं विचर सकते हैं ॥ २ ॥ (२५)

अब इस विषय को हम यहीं समाप्त करते हैं। यूं तो यह विषय ऐसा है कि जो वाणी से बाहर है, जिस में ही समस्त वेदों और उपनिषदों शास्त्रों का तात्पर्य है। परन्तु हमारे थोड़े से वर्णन का फल, यदि यह भी हो कि इसके सुनने से आप की रुचि इस का स्वाद लेकर इस ओर लगे तो हमारा श्रम सफल है ॥

॥ इति ॥

—:*:—

ओ३म्

चतुर्थ व्याख्यान

नमस्ते

यद्यपि हमको "नमस्ते" जैसे साधारण विषय पर लिखने की रुचि कभी नहीं हुई। परन्तु आजकल हमारे पास कितने ही सज्जनों का अनुरोध प्राप्त हुआ है कि नमस्ते के ऊपर कुछ न कुछ अवश्य लिखो। यद्यपि नमस्तेपर कई एक छोटे२ पुस्तकभी प्रकाशित हो चुके हैं और उनमें यथोचित शङ्काओं का समाधान भी किया गया है। परन्तु हम को आज यह दिखलाना है कि छुटाई बड़ाई के व्यवहार का उच्छेद देख कर जो लोग शङ्का करते हैं, उन का भ्रम निर्मूल है॥

जो लोग संस्कृत जानते हैं उन्हें इस में तो कुछ विवाद नहीं कि छोटे सदा बड़ों को नमस्ते करें और बराबर वालों में भी किसी को कुछ विवाद नहीं होता। विवाद केवल यह है कि बड़े छोटोंके प्रति आशीर्वाद कहने के बदले भी नमस्ते कहें, यह ठीक नहीं। हम इस शङ्का का समाधान करने से पूर्व बड़ाई छुटाई का विचार लिखते हैं। बड़ाई छुटाई के कारण ५ हैं—

वित्तं बन्धुर्वयः कर्म विद्या भवति पञ्चमी।
एतानि मान्यस्थानानि गरीयो यद्यदुत्तरम्॥

१ धन। २ बान्धव। ३ अवस्था (उम्र)। ४ कर्म और ५ विद्या; ये ५ मान्य के स्थान हैं, इन में पहिले २ से अगला २ बड़ा है। अर्थात् धन से बन्धु का मान्य बड़ा है, धन और बन्धु से अवस्था का, धन बन्धु अवस्था से कर्म का और धन, बन्धु, अवस्था, कर्म; इन सब से विद्या का मान्य बड़ा है। तथा वर्णभेद और पिता पुत्र आदि सम्बन्ध भी मान्य के कारण हैं। इस में सन्देह नहीं कि छोटों को चाहिये कि बड़ों को अभिवादन प्रणामादि करें और बड़े उनको आशिष् कहें। परन्तु इन सब छुटाई बड़ाई के सामने एक अंश में मनुष्यमात्र की समानता भी विचारने योग्य है। साधर्म्य और वैधर्म्य से सब चीजों का भाव समझ में आता है। जो लोग वैधर्म्य को ही देखते और साधर्म्य की चिन्ता ही नहीं

करते वे मनुष्यजाति में अनैक्य (फूट) का बीज बोते हैं। कल्पना कीजिये कि देवदत्त को राज्याधिकार प्राप्त है और वह न्यायासन पर विराजमान है और उस का गुरु, पिता, माता आदि कोई सम्बन्धी में बड़ा पुरुष उस के सामने न्यायार्थ लाया गया तो उस को उस समय राजा और प्रजा का सम्बन्ध मानना चाहिये, न कि पिता पुत्र आदि का और वही पुत्र जब घर पर आवे और निज (प्राइवेट) में पिता उसे सेवा की आज्ञा दे तो उस का धर्म होगा कि वह पालन करे। इसी प्रकार आचार्य गुरु ब्राह्मण आदि को समझना चाहिये। जब २ ब्राह्मणादि यज्ञादि कार्यों में ब्रह्मा होता उद्गाता आदि के पद पर काम करते हों तब २ यथायोग्य ऊंचे नीचे भाव का मानना आवश्यक है। परन्तु प्रतिक्षण यही विचार रखना और साधर्म्य या बराबरी का विचार ही न करना अवश्य मूर्खता या घमण्ड है। विचारने की बात है कि जो पुत्र एक पिता की सन्तान हैं वे आपस में भाई कहलाते हैं तो मनुष्यमात्र का परम पिता परमात्मा है; इस अंश के साधर्म्य से प्रत्येक मनुष्य दूसरे मनुष्य का भ्राता है। मनुष्यमात्र आकार में हस्तपादादि इन्द्रियां एक सी रखने के साधर्म्य से भी एक दूसरे के भ्राता हैं। मनुष्यमात्र की उत्पत्ति का द्वार एक होनेके साधर्म्य से भी एक दूसरे की जाति और भ्राता हैं। न्यायदर्शन में लिखा है कि:—

समानप्रसवात्मिका जातिः ॥ अ० २ पा० २ सू० ७१

जिन की उत्पत्ति समान हो वे आपस में एक जाति होने से मनुष्य २ की जाति है और गौ २ की जाति और इसी प्रकार अन्य हस्ती, अश्व आदि को जानो। एक देश के निवासी भी आपस में भाई कहलाते हैं, जैसे आज कल भारतीय भाई, अङ्गरेज भाई, पारसी भाई, अफ़ग़ानी, रूमी, रूसी भाई आदि। एक मत के मानने वाले भी आपस में भाई कहलाते हैं, जैसे पौराणिक भाई, हिन्दू भाई, मुसलमान भाई, ईसाई भाई आदि आपस में भाई हैं॥

अब विचारना चाहिये कि क्या हम लोग एक परमेश्वर के पुत्र नहीं हैं? क्या वेद में स्पष्ट नहीं लिखा है कि:—

शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः

"तुम सब परमात्मा के पुत्रो! सुनो" बस हमारा एक वेदोक्तत्व से

समान धर्म नहीं है ? क्या हम एक आर्यावर्त के रहने वाले आर्यभाई नहीं हैं ? क्या हमारी आकृति (सूरत) इन्द्रियादि के विचार से एक नहीं है ? फिर क्या हम न्यायशास्त्र के मतानुसार एक जाति नहीं हैं ? क्या हमारी उत्पत्ति एक ही द्वार से नहीं है ? जब कि हम एक ही परमात्मा के पुत्र एक ही वैदिक धर्म के अनुयायी एक ही आर्यावर्त देश के रहने वाले, एक ही मनुष्यजाति के सजातीय, एक ही द्वार से जन्मे इत्यादि अनेक साधर्म्य से बराबर हैं तो फिर आपस में एक दूसरे से "नमस्ते" क्यों न करना चाहिये ?

हम यह नहीं कहते कि हमें साधर्म्य ही का स्मरण करना चाहिये और पिता गुरु आचार्य आदि का बड़ा वैधर्म्यका भाव भुला देने चाहियें। नहीं २, हम आचार्य पिता आदि को उन के विशेष पर भी दृष्टि डालते हैं और स्वामी दयानन्दसरस्वतीजी, जिन्हों ने मनुष्यमात्र में सार्वजनिक भ्रातृभाव के बढ़ाने को नमस्ते के प्रचारका बहुत बलडगाया औरलगाना चाहिये था, वह भी—आचार्य पिता आदिके बड़प्पनका निषेध नहीं करते किन्तु उन्हों ने संस्कारविधिमें बालकों के सब संस्कारोंमें बड़ों की ओर से छोटों को सर्वत्र आशीर्वाद लिखा है इस से आप जान सकते हैं कि उन का तात्पर्य बड़े छोटे के भाव को मिटाने का न था।

जिस प्रकार हम को बड़े छोटे के भेदरूप वैधर्म्य पर दृष्टि डालनी चाहिये और डालते हैं उसी प्रकार उन लोगों को, जो नमस्ते के प्रचार को बुरा समझते हों, उन समानताओं पर भी दृष्टि डालनी चाहिये जिनका ऊपर वर्णन किया है और जो समानता मनुष्यमात्रको मनुष्यमात्रसे प्रीति करा कर एक दूसरे का मित्र बनाती हैं। हम उन सब प्रमाणों का न करके जो अन्य पुस्तक वालों ने किया है, केवल एक प्रमाण लिखते जो छोटे बड़े सब को नमः शब्द से सत्कार करना बताता है:—

नमो ज्येष्ठाय च कनिष्ठाय च नमः पूर्वजाय चापरजाय च। नमो मध्यमाय चापगल्भाय च नमो जघन्याय च बुध्न्याय च ॥ (यजुः १६ । ३२)

वयोवृद्धा ज्ञानवृद्धा अन्यगुणवृद्धा वा तत्र तत्र न्यूनेभ्यो, न्यूनाश्चतत्र तत्राधिकेभ्यो नमस्कुर्युरिति भावः समानोऽयं नमस्कारविधिः ॥

भावार्थ—(ज्येष्ठाय, च) बहुत बड़े के लिये (च) और (कनिष्ठाय) बहुत छोटे के लिये (नमः) नमस्कार [करो] (पूर्वजाय) अपने से जिस का जन्म पहिले हुआ उस अवस्था में बड़े के लिये (च) और (अपरजाय, च) पीछे जन्मे छोटे के लिये (नमः) नमस्कार [करो] (मध्यमाय च) और बीचले के लिये (च) भी (नमः) नमस्कार [करो] (अपगल्भाय) जो धृष्ट [गुस्ताख़] नहीं है उस (जघन्याय) अपने से नीचे के लिये (च) और (बुध्न्याय) अपने से उच्च के लिये भी [नमस्कार करो] ॥

इस मन्त्र में अच्छे प्रकार शिक्षा की गई है कि छोटे बड़े सब आपस में नमस्ते करें । नमः और ते को मिलाकर नमस्ते शब्द बनता है । नमः = नमस्कार । ते = तुम्हारे लिये । यह अर्थ है ।

कोई लोग यह भी कहने लगे हैं कि यह मन्त्र मनुष्यों के लिये नहीं, किन्तु ईश्वर के विषय में है । परन्तु यह उन की भ्रान्ति है । ईश्वरविषयक मानने में इतने दोष आते हैं—१–किसी पूर्व मन्त्र से न तो ईश्वर की अनुवृत्ति है, न इस मन्त्र में कोई ईश्वरवाचक शब्द है । २–ईश्वर किसी से अवस्था में छोटा होना असम्भव है वह अनादि है । ३–ईश्वर अजन्मा नहीं, इस में जन्म वालों का वर्णन है । ४–इस अध्याय में "स्तेनानां पतये" आदि विशेषण हैं जो ईश्वर में लगाने योग्य नहीं । इत्यादि ॥

कोई कहते हैं कि सब छोटे, बड़े, ईश्वर के ही रूप हैं इसलिये कुछ दोष नहीं । उत्तर–प्रथम तो यह कहना प्रमाणशून्य है कि सब ईश्वर का ही स्वरूप हैं और यदि आप का यही मत है कि सब ईश्वर का स्वरूप हैं ऐसा मानकर छोटे बड़े सब ईश्वर के स्वरूप हैं । तो फिर यही समझ कर सन्तोष कर लीजिये कि सब ईश्वर के रूप हैं तब छोटाई बड़ाई क्या ? और परस्पर नमस्ते में सन्देह क्यों ? ॥ इति ॥